नागार्जुन
के उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष

डॉ० रामवीर सिंह

धरती प्रकाशन

नागार्जुन
के उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष

डॉ० रामवीर सिंह

धरती प्रकाशन

प्रकाशक : धरती प्रकाशन, गंगाशहर, बीकानेर (राजस्थान) / मुद्रक : एस० एन० प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032/संस्करण : प्रथम, 1985 / मूल्य : पचास रुपये मात्र आवरण : चार चौधरी

NAGARJUN KE UPNYASON MEN SAMAJIK AUR RAJNITIK SANGHARSH (CRITICISM) DR. RAMVEER SINGH

PRICE : 50/-

पूज्या मां के लिए
जिनकी कृपा से मैं
इस दहलीज तक आ सका

क्रम

आमुख

स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन सम्बन्धी उपन्यास साहित्य में हिन्दी-जगत के महत्त्वपूर्ण एवं अनदेखे विषयों को राष्ट्रीय चेतना की धारा से जोड़कर देखने का प्रयत्न मिलता है। इन उपन्यासों के अन्तर्गत भारत के वे क्षेत्र जहां स्वतंत्रता की किरण का धुंधला स्वरूप ही है, उन्हें पूर्ण प्रकाशित करने का लक्ष्य निरूपित किया है। आज के बदलते हुए भौतिक युग में परिवर्तन की व्यापकता ने जिस प्रकार जीवन-मूल्यों की काया-पलट की है वह ग्रामांचलों में भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। अतः समूचे आंचलिक परिवेश को समझने-समझाने के लिए वहां विशिष्ट भाषा, बोली, रीति-रिवाज, सामाजिक परिवेशगत परंपराओं का निरूपण, सांस्कृतिक चेतना एवं आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न नवीन जीवन-बोध आंचलिक साहित्य की विशिष्टता है। इन सभी बातों को नागार्जुन के उपन्यासों के अंतर्गत विस्तार से चित्रित किया गया है। इनके उपन्यासों में वातावरण को साकार बनाने के लिए अनेक कथा-प्रसंगों को लेकर अंचल के बहुआयामी एवं बहु विसंगत फलकों को प्रस्तुत किया गया है। इस समूचे उपन्यास चिंतन में उन्होंने पुराने और नये के बीच की अन्तर-रेखा को स्वाभाविकता के साथ खींचा है।

नागार्जुन के उपन्यासों के अन्तर्गत देहाती जीवन में ऐतिहासिक परिवर्तन की अनेकों दिशाएं परिसीमित हैं। जैसाकि कहा जाता है कि भारत का ग्रामीण जीवन सम्बन्धी उपन्यास साहित्य अमेरिका के आंचलिक उपन्यासों के प्रभाव से हिन्दी में आया, नागार्जुन के उपन्यासों को पढ़ने पर यह बात निर्मूल सिद्ध होती है। उनके उपन्यास किसी भी विदेशी विचार की उपज न होकर समूचे भारतीय परिवेश और उसकी हलचल, राज-नीतिक दृष्टिकोण, सामाजिक विश्वासों और सांस्कृतिक समझ का परिणाम हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में समूचा देहात लाकर खड़ा किया है जिसमें किस्म-किस्म की संगतियां-विसंगतियां साफ-साफ दिखाई देती हैं।

नागार्जुन के उपन्यासों को ऐतिहासिक दृष्टि से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि वे मात्र हिन्दी-साहित्य में किसी विशेष परंपरा के अनुसरण में नहीं है, न ही उनमें किसी दृष्टि-विशेष का आग्रह है। उनके तमाम उपन्यासों के कथ्य ज्ञान के अन्य विषयों से मेल खाते हैं। राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे अध्ययन के विषय उनके उपन्यासों

की परिधि के अन्तर्गत आते हैं।

नागार्जुन की आत्मनिष्ठता किसी सीमा में बंधी हुई नहीं है। उन्होंने भारत को आज अध्ययन और उसके सदर्भ की दृष्टि से लिया है। उनका आत्मिक जीवन बहुत ही व्यापक एवं चिन्तनपरक है। यह स्पष्ट है कि भारत का कुटीर व्यवसाय विश्व में सर्वोत्तम माना जाता था। उसके माल की अहमियत विश्व में सर्वाधिक थी। परंतु योरप की औद्योगिक क्रांति से यह व्यवसाय पूर्ण रूप से नष्ट होता चला गया। कम समय में अधिक काम, स्थान की दूरी का सिमटना और हाथ का काम मशीन से बदल जाने के कारण भारत की दस्तकारी पूरी तरह नष्ट हो गई। भारत दिन-पर-दिन योरप की व्यावसायिक कम्पनियों के प्रभाव में आता गया। परन्तु सबसे अधिक भारत के आर्थिक जीवन को नष्ट करने में ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हाथ रहा जिसने भारत का आर्थिक ढांचा पूरी तरह तोड़ कर रख दिया। और सबसे अधिक भारत के पतन की, शुरुआत तब हुई जब यह भारत के प्रशासक के रूप में आई। इस कंपनी ने भारत का आर्थिक दोहन बहुत बुरी तरह से किया। परिणामस्वरूप देहात का दस्तकार बेकार होकर कर्ज की लपेट में आता गया। इस बेकारी, कर्ज और गुलामी से उसे अंग्रेजों के संरक्षक और देशी भेड़िए जमींदारों के यहां मनचाहे समझौते करने पड़े। उसकी बहन-बेटी को अर्थाभाव में घर से बाहर निकलना पड़ा और उन्हें भी अनेकों अनैतिक समझौतों के बीच पिसना पड़ा।

परन्तु आजादी के बाद ग्रामीण जीवन की यह जहालतभरी जिन्दगी बेहतर जीवन के लिए फिर से करवट बदलने लगी है। अपने अधिकार और जीवन की सुरक्षा के लिए देहाती लोग बंधुआ मजदूरी, आर्थिक और सामाजिक शोषण के खिलाफ संघर्ष पर उतारू हैं। नागार्जुन ने इस समूचे ग्रामीण फलक को अपनी रचनाओं में समेटा है।

नागार्जुन के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उनके यथार्थपरक दृष्टिकोण की है। कबीर और निराला के बाद वे हिन्दी साहित्य के अकेले रचनाकार हैं जिन्होंने बेलौस बिना लाग-लपेट और लाभ-लोभ के साहित्य के चौराहे पर खड़े होकर अनियमितताओं, असमानताओं और विसंगतियों पर प्रहार किया है, उन्हें कुरेद-कुरेद कर ढूंढा है। गांव के गली-कूचों गलियारों से लेकर शहर की गगनचुंबी इमारतों और उनके पीछे पलने वाली गंदे नालों पर बसी झोंपड़ी और झुग्गी वाली जिन्दगी को नागार्जुन ने पैदल चलकर स्वयं देखा है। इसी 'देखने' के आधार पर ही उनका 'अन्दाजे बयां' इतना तीखा और धार-दार हो सका है। बचपन से ही यथार्थ की तलाश में घर का परित्याग, वास्तविकता के लिए अपने और पराए की जांच नागार्जुन ने बड़ी गंभीरता से की है।

नागार्जुन का लगाव अपने प्रारंभिक जीवन से ही निम्न और उपेक्षित वर्ग से रहा है। यही कारण है कि उनकी रचना में निम्न वर्ग और उपेक्षित वर्ग के लोग ही नायकत्व की भूमिका निभाते हैं। स्वयं उच्चवर्गीय ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने कहीं भी ब्राह्मणवाद का आरोपण नहीं किया है उल्टे इस वर्ग के अन्दर पलने और पनपने वाले ढोंग, आडंबर और इसकी पोपलीला को व्यंग्यों, कटाक्षों और उदाहरणों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। नागार्जुन इस क्षेत्र में अकेले व्यक्ति है जिन्होंने इस परंपरा और रूढ़िवादी समाज पर खड़े होकर चोट की है। परन्तु यह नागार्जुन का दुराग्रह नहीं है। उन्हें गरीब और शोषित

ब्राह्मण और ब्राह्मणियों से बेहद सहानुभूति है—'बलचनमा' की मिसर की विधवा, 'रतिनाथ की चाची' की गौरी, आदि पात्र ऐसे ही हैं। नागार्जुन ने सदियों से शोषित, उपेक्षित और वंचित निम्नवर्ग को स्वाभिमान और बेहतर जीवन का रास्ता दिखाया है। वे उसके जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक के पडावों को बड़ी गंभीरता से निरूपित करते है। स्वतंत्र भारत में अछूतों को मिलने वाले अधिकारों को वे पूर्ण समर्थन देते हैं। जहां इसके विपरीत स्थिति होती है नागार्जुन वहां संघर्ष और जनचेतना को नेतृत्व देते हैं और उसे अमली जामा देकर उनकी बेहतर जिन्दगी के दरवाजे खोलते हैं। अपनी परपराओं और मुकामों के दौरान स्वयं वे भी इन निम्नवर्गीय पात्रों से खूब हंस-हसकर मिलते हैं और उनके साथ अपनी मंजिल का सफर तय कर रहे है।

नागार्जुन ने किसानों और मजदूरों के शोषण को मुक्त कराने के लिए जमीदारों और पूंजीपतियो से संघर्ष छेड़ा है। जमीदार द्वारा किए जाने वाले अत्याचार दमन और शोषण की ऐतिहासिक परंपरा को उन्होंने बड़ी खूबी से दिखाते हुए उसकी 'अति' पर चोट की है। 'जमीदारी उन्मूलन' के बाद जमीदार की बदलती नीयत और ग्रामीण परिवेश में उसके द्वारा उत्पादित नवीन व्यवस्था को नागार्जुन व्यंग्यबाणों से बेधते है। नागार्जुन ने इस वर्ग के ऐतिहासिक स्वरूप को प्रस्तुत किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन में मतलबी भूमिका और दुहरे लाभ वाले इस वर्ग की नस-नस की चतुराई को नागार्जुन ने 'बलचनमा', 'बाबा बटेसर नाथ' और 'वरुण के बेटे' में बड़ी गहराई के साथ प्रस्तुत किया है। इस वर्ग के लोगों का जेल जाना, जुर्माना भुगतना, सजा काटना देश-प्रेम का नाटक भर था। अपितु यह वर्ग इस नकली जेल में अपना और अपने वर्ग का हित पोषक ही रहा। यह नागार्जुन ने ऐतिहासिक निर्णय अपनी औपन्यासिक रचनाओं में दिया है। उन्होंने इस वर्ग की स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद की दोनों भूमिकाओं को प्रस्तुत किया है।

आजादी के बाद गांवों में जमीदार और किसान के बीच 'नये भूस्वामी' की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है। थोड़ा-सा पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी से जुड़ने वाला तथा ऊपर की आमदनी से बड़ी-बड़ी जोत वाले खेत खरीदने वाला यह वर्ग आजादी के बाद पैदा हुआ है। इस वर्ग ने गांव मे नई चौधराहट और अधिकार-लालसा मे आज बड़ी जी-तोड कोशिश की है। नागार्जुन ने इस वर्ग को 'नई औकात' वाला मानकर उसके संपूर्ण परिवेश को चित्रित किया है। *'बाबा बटेसरनाथ' के कुनाई पाठक और जयनारायण झा* के रूप में नागार्जुन ने इस वर्ग के कुटिल चरित्र को प्रस्तुत किया है। यह बिलकुल वास्तविकता है कि आज प्रत्येक गाव मे यह चरित्र खूब पनप रहे हैं और मध्यम दर्जे की औकात हासिल कर तमाम सुख-सुविधाओं को अपनी ओर खींच रहे हैं। अपने बच्चों को ब्याज के पैसे से पढ़ा-लिखाकर उन्हें नौकरी मिल जाने पर इस वर्ग ने गाव में तिगुना लाभ लिया है। एक तो छोटे किसान को कर्ज देकर उसकी जमीन छीनी है दूसरे, चक्रवृद्धि ब्याज से अपने धन के ब्याज पर ब्याज लगाकर खूब दुहराया-तिहराया है तो तीसरे, गाव में अपनी संतान को पढ़ा-लिखाकर सामाजिक सम्मान तो हासिल किया ही है साथ ही गांव की राजनीति को भी अपने स्वार्थ के लिए संचालित किया है। पारिवारिक सदस्य

पढ़-लिखकर तमाम सरकारी सुविधाओं से लाभ ले रहे हैं और अपने घर को सीधे-सीधे आधुनिकता से जोड़ने का भरपूर प्रयास किया जा रहा है। अत. इस उभरे हुए 'नए भूस्वामी' की नागार्जुन ने बड़ी अच्छी पहचान प्रस्तुत की है। उसकी चौपाल पर लगने वाली अनेकों सम्मानों की भीड़ को नागार्जुन ने 'वरुण के बेटे', 'बाबा बटेसर नाथ' 'बलचनमा' और 'रतिनाथ की चाची' में रूपायित किया है। नागार्जुन ने इस वर्ग को जमींदार से भी भयानक और कुटिल माना है। क्योंकि देहात में आज बड़ी जोत वाले की बहुत इज्जत है उसने आधुनिकता का दामन पकड़कर अपनी खेती, किसनई का औद्योगीकरण किया है। अतः उसने तमाम अधिकार और सम्पन्नताए पैसे के बल पर गांव में अपनी चौपाल की ऊंची चौघट पर हासिल की हैं। थाना, ब्लॉक, कचहरी और इलाकाई राजनीति में उसके प्रवेश से गांव की जनता अपने आप ही उसकी हदबन्दी में आ गई हैं। नागार्जुन ने इस वर्ग की एक और चारित्रिक विशेषता की ओर संकेत किया है वह है अपने स्वार्थ के लिए गाव में पार्टीबन्दी का श्रीगणेश। अपने विरोधियों और खिलाफी लोगों को झूठे केसों चोरी, कत्ल आदि में फंसाकर उन्हें कोर्ट-कचहरी के अहाते में मता मारने का उसका यह कदम बड़ा ही भयानक और खतरनाक है। 'बाबा बटेसरनाथ' में गरीब दयानाथ और जयनाथ इसी वर्ग के ओछे हथकंडे के शिकार बनकर प्रस्तुत हुए है। बलचनमा को झूठे चोरी के केस में फंसा देना। इस भूस्वामी की इसी चारित्रिक विशेषता को नागार्जुन ने आम जनता के समक्ष प्रस्तुत कर उसके पैंतरो से बचने का संकेत दिया है।

नागार्जुन के सभी उपन्यासों में राजनीतिक संघर्ष की उनकी अपनी अनुभवी भूमिका है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगमन से लेकर आजादी मिलने तक के राजनीतिक वातावरण को समझने और प्रस्तुत करने में नागार्जुन ने एक कुशल राजनीतिज्ञ का परिचय दिया है। वैसे नागार्जुन स्वयं भी साम्यवादी विचारधारा से जुड़े हुए है अतः उनकी राजनीतिक समझ और उसके निष्कर्ष बड़े ही प्रामाणिक है। राष्ट्रीय आन्दोलनों में कांग्रेस और अन्य दलों द्वारा निभाई गई भूमिका के वे चश्मदीद गवाह रहे हैं। अतः उनके उपन्यासों में आजादी से पहले और बाद की राजनीतिक स्थिति बड़ी साफ दिखाई देती है। 'भानमती का पिटारा' वाली कांग्रेसी राजनीति की उन्होंने अपने उपन्यासों में जमकर उसकी अवसरवादिता पर चोट की है। नागार्जुन राजनीति में गांधीजी से बहुत प्रभावित हैं परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उन्होने विरोध किया है इसी तरह आजादी के बाद वे जे० पी० की 'संपूर्ण क्रान्ति' का समर्थन करते है और जेल भी जाते है लेकिन कुछ ही दिनों बाद उस स्थिति को 'रंडी और भडुओं' का खेल बताकर अलग हो जाना उनके अन्दर उत्पन्न अन्तर्विरोध का सूचक ही है। क्योंकि अपनी ही बात को आगे बढ़ाकर मुकर जाना उनकी स्थिति को स्पष्ट करता है।

राजनीतिक दलों के बारे में नागार्जुन वर्तमान विसंगति के लिए कांग्रेस को जिम्मेदार ठहराते है। जिस ढंग से स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया—किसानों और मजदूर संगठनों ने उसमें सक्रिय भूमिका अदा की वहीं कांग्रेस और उसके रहनुमाओं ने समझौतापरस्त राजनीति से उसके स्वरूप को धूमिल कर दिया। नागार्जुन ने 'बलचनमा' और बाबा बटेसरनाथ में इस स्थिति को बहुत कुछ स्पष्ट किया है, 'जिन्दगी भर स्टेट का पैसा फूकना

ौर अब चदे का' या 'फूलबाबू कांग्रेसी नेता का अपने फूफा के यहा ठहर कर गांव की ूचालग्रस्त जनता की लिस्ट तैयार करना', काग्रेस के अलमबरदारो की चारित्रिक और ातिवादी भूमिका को स्पष्ट करता है।

नागार्जुन ने नारी-जीवन को अपने उपन्यासों में एक नया और अद्वितीय प्रकाश देया है। नारी-जीवन में अनमेल विवाह के कारण घटने वाली घटनाओ की विसंगतियो ो आधुनिक शिक्षा के आलोक मे व्याख्या कर उनका क्रांतिकारी हल प्रस्तुत किया है। ारी-जीवन मे 'वैधव्य' सबसे बड़ा अभिशाप होता है जिसके बडे असंगत परिणाम सामने ाते हैं। नारी पुरुष के अभाव में निराश्रित होकर मनचाहे और अनदेखे लोगो का शिकार होती है उसे पेट भरने के लिए कितने ही गलीच और कुत्सित रास्तो पर समझौतों ौर समर्पणों से गुजरना पडता है नागार्जुन ने इसे 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध', कुंभीपाक' और 'जमनिया का बाबा' मे बड़े मार्मिक ढंग से उजागर किया। वे रतिनाथ ी चाची में विधवा गौरी पर होने वाले सामाजिक अपमान और असहाय समर्पण से तिल-मिला कर 'नए समाज', 'नई पीढ़ी' और नई चेतना को जन्म देते हैं और अनमेल विवाह ो तोडकर अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह और यहां तक कि गर्भवती विधवा के विवाह को मान्यता देकर इस समस्या का क्रातिकारी हल प्रस्तुत करते हैं। नागार्जुन का यह कदम अपने पूर्ववर्ती और समकालीन लेखकों यहा तक कि प्रेमचद से भी अधिक क्रांतिकारी है। प्रेमचंद के नारी पात्र समाज मे उपेक्षा और खिलवाड़ के शिकार रहे हैं। उन्हें कभी भी सामाजिक सम्मान नही मिला है परन्तु नागार्जुन का यह कदम वर्गविहीन समाज ी संरचना का सहज सूचक है। उन्होंने विधवा समस्या का हल दकियानूसी समाज पर न छोड़कर नई पीढ़ी के चेतना संपन्न युवा वर्ग पर छोड़ा है जो कि तमाम थोथी मान्य-ताओ पर प्रहार कर एक नये भारत के नये समाज की अभूतपूर्व रचना की बुनियाद डालते है। नागार्जुन ने विधवा समस्या का हल उनके पुनर्विवाह मे ही माना है।

नागार्जुन के नारी पात्र भी आधुनिक चेतना से संपन्न हैं। वे सामाजिक विसंगतियो से ही नही, अपितु राजनीतिक समस्याओ से भी संघर्ष करते है। 'बलचनमा' में फूदन मिसर की विधवा और मुसम्मात तीरी अमात, विधवा चाची गौरी, 'वरुण के बेटे' की मधुरी जमींदार और सरकार की असंगति नीतियों के खिलाफ जमकर मोर्चा लेती है। बलचनमा मे फूदन मिसर की विधवा का फसल कटवा कर घर ले आना, चाची का तारा-चरण को *'किसान सभा' के लिए स्वय के ओढ़ने तक का कंबल चदे मे देना,* और मधुरी का मछुओ की समस्याओं के संबंध में सीना तानकर गिरफ्तारी देना, आधुनिक नारी की प्रगतिशील भूमिका को नागार्जुन ने ग्रामीण जीवन मे प्रस्तुत कर नारी-चेतना के विकास का दरवाजा खोला है। यही नही 'मधुरी' तो उनका ऐसा पात्र है जो समाज की जर्जर मान्यता पर कि 'पति परमेश्वर होना है' थूकती है और अपने सुसराल वालो के अमानवीय व्यवहार को ठुकराती हुई अपने पिता खुरखुन के यहां लड़के की तरह स्वाभिमान का जीवन बिताती है।

एक और बात जो नागार्जुन के उपन्यासों मे देखने को मिलती है वह है उनके नारी संगठन की। नागार्जुन के नारी पात्र ईर्ष्या, दाह, जलन आदि के मनोवैज्ञानिक शिकार

नही हैं। वे विशुद्ध रूप मे आधुनिक चेतना सम्पन्न हैं जो कि अपने वर्ग की शोषित और पीड़ित महिलाओं को अपने परिवार का सदस्य बना-बनाकर सहायता करती हैं। उन्हें स्वाभिमान और सामाजिक सम्मान देकर उनके चरित्र की रक्षा करती हैं। 'उग्रतारा' मे कामेश्वर की भाभी, और 'कुम्भीपाक' में कम्पाउन्डर की बीवी निर्मला एवं प्रोफेसर सदानंद की पत्नी रंजना की भूमिका इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। नागार्जुन चाहते है कि यही सम्मान हर शोषित और पीड़ित नारी को नारी के द्वारा दिया जाए जिससे उसके सामाजिक अस्तित्व की रक्षा हो सके।

नागार्जुन ने निम्नवर्गीय पात्रो में नवीन चेतना का संचार किया है। आजादी के बाद बदलती हुई सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति मे नागार्जुन ने उनके स्वाभिमान और सामाजिक सम्मान के लिए संघर्ष का नेतृत्व किया है। किसान-सभा और मछुआ-संघ जैसे संगठनों के माध्यम से उनकी मांगें पूरे दलित और शोषित वर्ग की मांगों के साथ समवेत स्वर से मुखरित हुई हैं। स्वयं नागार्जुन किसी लाभ-लोभ अथवा आश्रय के कायल नही रहे इसीलिए उन्होंने अपने इन पारिवारिक पात्रों को हक की लड़ाई लड़ने की बारम्बार शिक्षा दी है, उसे एक मंजिल तक पहुंचाया भी। ग्रामीण जीवन में बलचनमा खुरखुन, मोहन मांझी, आदि के माध्यम से उन्होने शोषित वर्ग को ऊपर उठाने का पूरा प्रयास किया है।

सरकारी कर्मचारियों की भी ग्रामीण जीवन में शोषक की भूमिका रही है। ये कर्मचारी प्रायः दो प्रकार के कर्मचारी हैं। एक वे जो सरकार से वेतन पाते हैं और दूसरे वे जो धनी वर्ग के लोगो के यहा निजी तौर पर कारिन्दा आदि रहकर काम करते हैं। सरकारी कर्मचारियों की माया का कोई ठिकाना नही। आज की कार्यपालिका राजनीति से इतनी दबी हुई, इतनी प्रभावित है कि उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिन्ह गहराने लगा है। ब्रिटिश शासन की पुलिस और आज की पुलिस के चरित्र मे कोई अन्तर नही आया। अनपढ़ जनता को उल्टे-सीधे जालों मे फंसाकर गांवो के धनिकों से मिलकर उनके यहा आग लगवाना, बहन-बेटियों की अस्मत लूटना, बेइज्जत करना, अंग-भंग करके उन्हे जीवित लाश बना देना उनका आज का कर्तव्य-सा बन गया है। नागार्जुन ने इस तरह के जुल्मों की भी फहरिश्त अपने उपन्यासों में दी है। उनका 'अभिनंदन' उपन्यास तो राजनेताओं, कर्मचारियों और सत्ता से चिपके लोगो के भ्रष्ट आचरणो, काला-बाजारियों और तस्करों का प्रामाणिक दस्तावेज है। सत्ता के इर्द-गिर्द मडराने वाले चापलूस नागार्जुन के व्यंग्य-बाणो का निशाना बने हुए हैं।

परन्तु नागार्जुन के उपन्यासों मे कई चीजें देखने को नही मिली हैं वे हैं साम्प्रदायिकता की भावना, कृषि विकास का औद्योगिक स्वरूप और औद्योगिक मजदूर की समस्या। यद्यपि नागार्जुन ने अपनी कविताओं में इन तीनो पर विस्तार से लिखा है उनके जीवन और उनके शोषण के सूत्रों को पकड़ा है। परन्तु उपन्यास के क्षेत्र में यह राष्ट्रीय सदर्भ अछूता है। उन्होंने इसके बारे मे अपने उपन्यासों मे कही भी टिप्पणी नही की है।

साम्प्रदायिक समस्या जो कि आज के भारत के कोने-कोने मे विष की तरह फैलती

जा रही है। इसकी लपेट में देश और उसकी अखण्डता फंस चुकी है। ऐसी स्थिति में नागार्जुन के उपन्यासों में कहीं भी इस विष-बेल का संदर्भ न होना अखरता है। जिस तरह से उन्होंने अन्य राष्ट्रीय और ज्वलंत समस्याओं, उनकी विद्रूपताओं को जन-जीवन के सामने उजागर कर उनकी बखिया उधेड़ी है उनके निराकरण को दिशा-निर्देश किया है ठीक उसी तरह से इस समस्या का भी वे निदान प्रस्तुत करते तो और ही उत्तम होता। यद्यपि उनके यहां हिंदू और मुसलमान, स्वर्ण और अवर्ण सभी पात्र है परन्तु वे साम्प्रदायिक द्वेष से ग्रसित नहीं हैं। परन्तु आज के इस चुनावी चक्रव्यूह में सांप्रदायिकता जातिवाद, क्षेत्रवाद जिसके मुख्य द्वार है नागार्जुन इन पर भी अपने व्यंग्य-वाणों की बौछार कर ध्वस्त करते तो अच्छा होता।

दूसरे, नागार्जुन किसान समस्या को केवल भूमि से ही जोड़कर देखते हैं उनके किसानों का पूरा-पूरा संघर्ष केवल जमीन प्राप्त करने तक जुड़ा हुआ है। आधुनिक कृषि विकास और कृषि के औद्योगीकरण पर बाबा मौन हैं। कृषि का यंत्रीकरण जिस ढंग से हमें उनके समानधर्मा फणीश्वरनाथ रेणु में मिलता है उस ढंग से नागार्जुन में नहीं। वैज्ञानिक उपकरणों, सिंचाई के साधनों, उन्नतशील बीजों आदि का प्रयोग हमें 'मैला आंचल' में मिला है लेकिन नागार्जुन में उसके दर्शन नहीं होते।

एक और बात जो कि नागार्जुन के उपन्यासों से अछूती रह गई है वह है औद्योगिक मजदूरों की समस्या। यद्यपि नागार्जुन कविता में इन विषयों पर बराबर लिखते रहे है लेकिन उनके उपन्यास साहित्य में यह चर्चा एक भाव के रूप में दृष्टिगोचर होती है। पूंजीपति, कारखानेदार, मिल-मालिक आदि शोषकों के खूनी जबड़ों में फंसे हुए निरीह मजदूरों के घुटे हुए दम की आवाज उपन्यास साहित्य में नहीं है। मात्र 'जमनिया का बाबा' उपन्यास में जेल के कैदियों की चर्चा भर में ये मजदूर शामिल हुए है अन्यत्र नहीं। नागार्जुन का उपन्यासों के लेखन में पूरा ध्यान समाज और उसकी विसंगतियों तथा राजनीति और उसकी भूमिका पर रहा है। हां, उनकी कविता में इन तमाम संदर्भों की व्याख्या प्रस्तुत है।

अतः हम देखते हैं कि नागार्जुन के उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के तमाम सन्दर्भ राष्ट्रीय चिन्तनधारा से जुड़े रहे हैं। उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने राष्ट्र और समाज की विसंगतियों का नवीन हल प्रस्तुत किया है। उनके उपन्यास मनोरंजन और समय काटने के लिए नहीं अपितु सोचने-समझने और कुछ कर-गुजरने के लिए हैं। वे अपने पुष्ट विचारों के अकेले लेखक हैं जिन्होंने वर्गविहीन समाज की बुनियाद रखी है जो कि समाज और राष्ट्र की प्रगति में महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने साहित्यकार के दायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है।

इन्हीं रचना-सदर्भों का प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में बाबा नागार्जुन के उपन्यासों की पूर्व-पीठिका के अन्तर्गत ऐतिहासिक अध्ययन है। क्योंकि आलोचना के क्षेत्र में इन ग्रामीण जीवन सम्बन्धी उपन्यासों को क्षेत्रवाद और अंचल विशेष की परिधि से सीमित कर उनके मूल्यांकन की परिपाटी बराबर चली आ रही है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे नितांत भिन्न है। इस अध्याय में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि ये उपन्यास न

तो किसी क्षेत्र में घिरे है और न किसी अंचल में बल्कि उनका राष्ट्रीय परिवेश है। नागार्जुन का आंचलिक दृष्टिकोण राष्ट्र की धारा से संपृक्त है। भारत में होने वाले औद्योगिक परिवर्तन में, राष्ट्रीय आन्दोलनों में, सुधारवादी जन नायकों के प्रयत्नों में शहर ही नहीं गांव भी बड़े पैमाने पर प्रभावित हैं। औद्योगिक क्रान्ति में भारत के गांवों में सामाजिक और आर्थिक बदलाव नए रूपों में आया है तो राष्ट्रीय आन्दोलनों में देहात के व्यक्ति ने बड़ी तादाद में भाग लेकर अधिकार-बोध सीखा है। अतः देहाती जीवन में आने वाली इस नवीन चेतना में नागार्जुन के उपन्यासों के कथानक को जोड़ने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय में नागार्जुन को साहित्यकार बनाने वाले परिवेश का अध्ययन है। बचपन से ही अभाव और गरीबी में पले नागार्जुन का जीवन संघर्षों से भरा हुआ रहा है। परन्तु लेखक अपने विद्यार्थी जीवन से ही व्यवस्था विरोधी रहा, वह अत्याचार, जुल्म और सामाजिक अंधविश्वासों को नकारता रहा है। उनके जीवन की अनेक घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं। स्वयं उच्चवर्गीय ब्राह्मण होते हुए उन्होंने कभी भी न तो पण्डित होने का दावा किया है और न वे ब्राह्मणवाद के पोषक रहे हैं। उल्टे उन्होंने इस वर्ग की ढोंग लीलाओं का उपहास ही किया है। उन्हें निम्नवर्ग के लोगों, गरीबों, मजदूरों, शोषित महिलाओं से बेहद स्नेह है। उन्होंने इन्हें सामाजिक सम्मान देकर वर्गविहीन समाज की स्थापना अपने उपन्यासों में की है। स्वभाव से अति सरल और संघर्ष की आग में तपे हुए व्यक्तित्व के धनी इस लेखक के विचारों में इनके अनुभवों का महत्त्वपूर्ण योग है। बचपन से ही देहात का भ्रमण, देश-विदेश की यात्राएं, विभिन्न भाषाओं के ज्ञान आदि के माध्यम से इन्होंने आम आदमी को बड़े निकट से देखा है और वे उसी के साथ जुड़ते गये हैं। स्वाभिमानी और आत्म-सम्मानी नागार्जुन कभी भी लाभ-लोभ या आश्रय के लिए नहीं झुके अपितु उसे ठुकराया है। इस अध्याय में उनके जीवन के इन्हीं विधायक तत्वों के आलोक में उनकी विचार-धारा को समझने का प्रयास है।

तीसरे अध्याय में नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित सामाजिक संघर्ष को प्रस्तुत किया है। आज के भौतिकवादी युग में मूल्यों का बिखराव जिस तेजी के साथ हो रहा है, पारिवारिक जीवन में व्यक्तिवादी भावना दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। नई और पुरानी पीढ़ी में बढ़ते हुए अन्तर से तनाव देहातों में अब खुलकर देखने को मिल रहे हैं। धनाभाव में व्यक्ति का परिवेश से कटना, सिमटना उसके व्यक्तित्व को बौना बना रहा है। इस तरह के वातावरण में देहाती जीवन के अन्तर्गत नागार्जुन ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में नवीन दिशा दी है। सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं से संघर्ष करते हुए नागार्जुन एक निश्चित स्थान पर पहुंचते हैं जहां उनके अपने समाज का सपना साकार होता है।

चतुर्थ अध्याय उनके उपन्यासों में चित्रित राजनीति संघर्ष से सम्बन्धित है, जिसमें देहाती जीवन में स्वतन्त्रता के बाद चुनावी राजनीति, जमींदार की पैंतरेबाजी, उभरता हुआ भूस्वामी वर्ग और अवसरवादी नेताओं के झांसे में पिसता हुआ गरीब किसान और

मजदूर है जो अब अपने अधिकार के लिए संगठित हो रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता का स्वरूप जो कि इन्ही चंद लोगों की चौपालो पर देखने को मिलता है, नागार्जुन उसे हर घर का अधिकार मानते हैं। इस आध्याय में उनके इसी अधिकार-बोध का अध्ययन है।

पुस्तक मे यह देखने का बराबर प्रयास किया गया है कि नागार्जुन की औपन्यासिक कृतियां राष्ट्रीय सदर्भों से जुड़ी हैं। नागार्जुन गरीब और शोषित बहुसख्यक समुदाय के प्रतिनिधि लेखक है, उनके अधिकारों के हिमायती हैं। अपनी कृतियो मे उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के माध्यम से स्वस्थ समाज की बुनियाद डाली है। पुस्तक में इस दिशा मे बराबर सोचा गया और विनम्र प्रयत्न किया गया है ताकि इस अध्ययन से नागार्जुन की कृतियों को समझने मे एक दिशा मिले। फिर भी मेरे अध्ययन की एक सीमा रही है। अतः भूलो का होना संभव है, सुझावो का स्वागत होगा।

इस कार्य को मैं पूरा कर सका यह श्रेय मेरे गुरु एवं अभिभावक डॉ० कुंवरपाल सिंह रीडर, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ को है। आपने मेरे विद्यार्थी जीवन से ही मुझ पर कृपा की है उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूं। आदरणीया डॉ० नमिता सिंह चर्चित जनवादी कहानी लेखिका का मैं कृतज्ञ हूं जिन्होंने एक रचनाकार चिंतक के रूप में मुझे दिशा-निर्देश किया है। मेरे मित्र डॉ० कृष्णगोपाल शर्मा का मुझे सहयोग मिला है उन्हें धन्यवाद। मेरी पत्नी सविता ने इस पुस्तक के लिखने में बहुत सहयोग दिया है उन्हें मात्र धन्यवाद देना तो औपचारिक है। धरती प्रकाशन, बीकानेर को धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है कि पुस्तक जल्दी प्रकाशित हो सकी।

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के निदेशक प्रो० बालगोविन्द मिश्र का आभारी हूं जिनसे समय-समय पर पुस्तक सम्बन्धी विचार-विमर्श होता रहा है। बाबा नागार्जुन के सम्मुख मैं विनत हूं।

केन्द्रीय हिन्दी सस्थान
आगरा-282005

—रामवीर सिंह

नागार्जुन के उपन्यासों में
सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष

1

नागार्जुन के उपन्यासों की पूर्व-पीठिका

प्रायः यह देखने को मिलता है कि कोई भी लेखक अथवा रचनाकार यदि स्पष्टवक्ता है या व्यवस्था से सामंजस्य नहीं रखता है तो निश्चित ही उपेक्षा का भागीदार बनता रहता है। उसे उसके मौजूदा परिवेश में कभी भी मूल्यांकित नहीं किया जाता। उल्टे उस पर दुराग्रही, उग्रवादी, विद्रोही और अराजक जैसे विशेषण जोड़कर देखने की प्रवृत्ति मिलती रही है। बाबा नागार्जुन इसके सटीक उदाहरण हैं। उनका नाम आलोचना जगत में कहीं मनमौजी, कहीं फक्कड़, कहीं उठा-पटक करने वाला और कहीं आंचलिक लेखक आदि के रूप में जाना जाता रहा है। यह हिन्दी-जगत का दुर्भाग्य ही है कि नागार्जुन सरीखे सशक्त और सच्चे साहित्यकार की लेखकीय रुझान से सदैव कतराकर आलोचकों ने उन्हें व्याख्यायित करने की कोशिश की। इसीलिए उनके मूल्यांकन में मनगढ़त बातों को अधिक फिट किया गया है इस सम्बन्ध में सबसे अधिक पीड़ादायक बात तो यह होती है कि अध्येता सामान्यतः दूसरों के आलोचनात्मक ग्रन्थ पढ़कर ही उसी के आलोक में उसे देखता है। लेखक के मूल ग्रन्थ को न पढ़ने अथवा पढ़कर न समझने की यह दिशाहीनता समूचे चिन्तन-जगत को प्रभावित कर देती है और विचारों का सही संदर्भ सदैव असम्प्रेषित ही रह जाता है।

—नागार्जुन उपन्यास-जगत में आंचलिक लेखक के नाम से जाने जाते हैं और क्षेत्र विशेष की भाषा, बोली, शब्द योजना, गीतात्मकता आदि के साथ उनकी कृतियां विन्यस्त की जाती रही हैं। लेकिन हिंदी में आंचलिकता का दौर 1955 के बाद शुरू होता है जबकि नागार्जुन के दो सशक्त उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' इस दौर से पहले ही लिखे जा चुके थे। अतः नागार्जुन की कृतियां और वे स्वयं किसी मतवाद या आग्रह के शिकार नहीं रहे। उनका अपना स्वतंत्र चिन्तन है। वे जनता के लेखक हैं, आम आदमी उनके कथानकों का नायक है। वे उन लाखों-लाख देहातियों को, मजदूरों को, बालगुलामों को, गरीबी और कर्ज से टूटे हुए भूखे-नंगों को,

प्रतिनिधित्व देते है जो बहुसंख्यक होते हुए भी अल्पसंख्यक हैं, जुबानदार होते हुए भी बेजुबान है, शक्तिशाली होते हुए भी शक्तिहीन है और श्रमशील होते हुए भी भूखे रह रहे हैं।

प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन हिंदी साहित्य में अकेले लेखक हैं जिन्होंने शोषक और शोषित, दानी और दलित, भूस्वामी और भूमिहीन, शिक्षित और अशिक्षित, शहर और देहात के सम्बन्धों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने देहात में पैदा होने वाले मजदूर के जन्म से लेकर मृत्यु तक के पड़ावों को स्वयं पास जाकर देखा है इसीलिए उनकी समस्त कृतियां देहाती जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज बन गई हैं। इसीलिए संदर्भों की विविधता के कारण आलोचक बन्धु उनके लेखकीय परिवेश से अपरिचित रहे हैं इसलिए नागार्जुन का लेखन उनका अनुमान बन गया है। यही नहीं शासन की ओर से अपने यथार्थ-बोध और उसकी अभिव्यक्ति के कारण इस लेखक को शासकीय व्यवस्था का कोप-भाजन भी बनना पड़ जाता है। उनकी जेल, नजरबन्दी, रचनाओं की जब्ती आदि सभी कुछ होते रहे हैं। डॉ० कुंवरपालसिंह ने इस तरह के प्रतिबद्ध लेखकों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए दुराग्रहवादियों पर सीधे चोट की है—

"वास्तव में बदलती हुई ग्रामीण व्यवस्था पर लिखे गए उपन्यासों को 'आंचलिक' उपन्यास कहकर उनका महत्त्व कम किया जाता रहा और उस वास्तविकता पर परदा डालने का प्रयास किया गया जिसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। इन उपन्यासों ने देश के तीन-चौथाई भाग में हो रहे गंभीर परिवर्तनों की ओर उपन्यास के पाठकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया था परन्तु उन्हें किसी अचल विशेष की परिस्थितियाँ और समस्याएँ कहकर नकार दिया गया''''''ग्राम्य-व्यवस्था पर गंभीर और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ देने वाले लेखकों को 'आंचलिक लेखक' कहकर उन्हें द्वितीय श्रेणी के लेखकों की पंक्ति में धकेल दिया।" (हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, 1976, पृ० 156)

परन्तु नागार्जुन अपने व्यक्तित्व के अकेले लेखक हैं जिन्होंने कभी न शासन की परवाह की न साहित्यिक आलोचकों की। एक समर्पित लेखक के नाते उनकी वैचारिकता पर कोई असर नहीं पड़ा है। वे किसी लाभ-लोभ या आतंक के सामने झुके नहीं। उनका भावबोध तमाम यातनाएं भोगने के बावजूद और अधिक निखरता गया और अपने लेखन में उन्होंने शासकीय अन्याय, अत्याचार और सामाजिक विषमता के खिलाफ, क्रांतिकारी पात्रों को स्थान दिया। उन्हें दिशा दी।

अतः आवश्यक है कि इस अनुभवी लेखक के उपन्यासों के रचना-सन्दर्भों को, उनकी पृष्ठभूमि को राष्ट्रीय परिवेश में समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं इतिहास जैसी अन्य ज्ञान विधाओं के माध्यम से देखना अनिवार्य है जिससे उनकी कृतियों के निष्कर्ष वैज्ञानिक कसौटी पर उतारे जा सकें।

भारत की अर्थव्यवस्था

अठारवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति की घटना [illegible] सोचने-समझने के दृष्टिकोण को बदल दिया था। मानव-सभ्यता के [illegible] का यह पहला सोपान था जिसमें मनुष्य के सहयोगी होने के साथ-साथ उसे हड़प जाने की नीयत बराबर प्रयत्नशील थी। नए-नए आविष्कारों से उसके सोचने-समझने के तौर-तरीकों में बहुत बड़े प्रश्न-चिह्न खड़े हो गए और मनुष्य की अपनी अस्मिता गुम होने का भय पैदा हो गया।

इस क्षेत्र में आगे आने वाला पहला देश इंग्लैंड था। जिसने मशीनी दुनिया को जन्म दिया। सूत के कातने, बुनने तथा यातायात के साधनों के आविष्कारों से इस देश ने अपनी बौद्धिक क्षमता का परिचय पहली बार दुनिया को दिया। इसने पहली बार हाथ के काम को मशीन में बदल कर नई पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। मशीनों के आविष्कारों ने जहां उसकी उत्पादन क्षमता को आगे बढ़ाया वहीं उसकी व्यावसायिक वृत्ति भी उठ खड़ी हुई। कम समय में बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादन की खपत, उत्पादन के लिए कच्चा माल, उद्योगों में लगी हुई भारी पूंजी की सुरक्षा के लिए मुनाफा आदि ने इसे धीरे-धीरे विश्व में बिखेर दिया और यह प्रतिस्पर्धा के रूप में व्यावसायिक कंपनियों के माध्यम से विश्व के कोने-कोने में पहुंचने लगा, भारत में विशुद्ध व्यवसाय की दृष्टि से आने वाली पहली और सशक्त व्यावसायिक कंपनी ईस्ट इण्डिया कंपनी थी।

अपने प्रारंभिक चरण में ब्रिटेन के इस औद्योगीकरण की भूमिका व्यावसायिक रही जिसके अन्तर्गत उसे शुरू-शुरू में प्रतियोगितात्मक कठिनाई का सामना करना पड़ा। अतः इसे जमाने के लिए उन्होंने शासकीय हथकंडे भी अपनाए। इस दुहरी चाल में इस देश की पूंजीवादी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति काम कर रही थी। भारत के कपड़ा उद्योग के बारे में इस बात का पक्का प्रमाण मिलता है। भारत का कपड़ा विश्व के बाजारों में सर्वोत्तम माना जाता था। सुन्दर, टिकाऊ और आकर्षक भारतीय कपड़े की विश्व में अतुलनीय विशेषता थी। यह बात नवविकसित तकनीक वाले अंग्रेज कपड़ा व्यापारियों को न पसद थी। अतः उन्होंने अपने प्रभुत्व से ब्रिटिश सरकार पर दबाव डालकर उसकी खरीद-फरोख्त पर इंग्लैंड में पाबंदी लगवा दी, साथ ही भारतीय बाजार को उन्होंने अपनी गिरफ्त में ले लिया—

"पहले ज्यादा शुल्क लगाकर और फिर कानून बनाकर उन्होंने भारतीय कपड़े को ब्रिटेन के बाजार से निकाला फिर योरप और अन्य देशों के बाजार से और आखिर में खुद भारत के अन्दर उसका पटरा बैठा दिया। भारत के बाजार पर ब्रिटिश पूंजीपतियों के कारखानों का बना कपड़ा छा गया। (अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, 1977, पृ० 9)

इंग्लैंड ने विश्व को एक नई महाजनी सभ्यता भी दी जिसने अपने वर्गीय हितों के लिए हर आवश्यक कदम तेजी और सख्ती के साथ उठाया। इस

औद्योगिक क्रांति का आगे चलकर बड़ा भयानक परिणाम निकला । क्योंकि भारत विश्व के अपार खनिज सम्पदा सम्पन्न और उपजाऊ भूमि के कारण 'सोने की चिड़िया' कहलाता था, अपने सामुदायिक और स्वावलम्बी सामाजिक स्तर के कारण उसकी तमाम जरूरतें अपने में संपूरित थी और यहां कच्चा माल – लोहा, कपास, पटसन, रेशम, जस्ता, चमड़ा आदि विश्व के अन्य देशों के मुकाबले में कई गुना अधिक था । इसलिए अपने चार्टरों, मानपत्रों आदि के माध्यम से ब्रिटिश पार्लियामेंट को सब्जबाग दिखाती हुई यह व्यावसायिक कंपनी भारत के उद्योगों पर छाने लगी ।

इधर भारत का प्रशासन केन्द्रीयसत्ता के अभाव में ढीला-ढाला चल रहा था । देशी नरेशों और नवाबों की आपसी टकराहट ने यहां की आन्तरिक राजनीति को छिन्न-भिन्न कर रखा था । भारत की इस राजनीतिक परिस्थिति का कंपनी ने भरपूर फायदा उठाया । वह यहां की फूट और ब्रिटेन की पार्लियामेंट की रजामंदी के बीच अपना बहुमुखी विकास करने में लगी रही । यद्यपि भारत में योरप के अन्य देशों की व्यावसायिक कंपनियां भी थी परन्तु वे इग्लैंड की ईस्ट इण्डिया कंपनी के मुकाबले में अशक्त थी । अतः ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी के कर्मचारियों की दिन-रात की दौड़-धूप भारत की आन्तरिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने लगी और उसने अपनी कूटनीति के कारण भारतीय शासन को पहली पछाड़ सन् 17·7 में बंगाल में प्लासी के मैदान में दी और सत्ता परिवर्तन करके भारतीय प्रशासन में पहली बार हस्तक्षेप किया ।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भारत में साम्राज्यवादी नीति और पूंजीवादी प्रवृत्ति की मिली-जुली भूमिका में काम करना प्रारंभ कर दिया राजनीतिक सत्ता हथियाने और अपना व्यापार बढ़ाने में उसके बहुउद्देशीय आयाम जुड़ते चले गए । शक्ति और सत्ता अर्जित करने के लिए उसने देशी राजा और नवाबों को एक-एक करके धीरे-धीरे गिराना शुरू किया तो दूसरी ओर अपनी व्यापारिक उन्नति के लिए उन्होंने भारत के विश्व में सर्वोत्तम कुटीर उद्योग-धन्धों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया । भारत की इस विनाश-लीला में ब्रिटेन की औद्योगिक क्षमता दिनों-दिन बढ़ने लगी । भारत की 'लूट' से उन्हें कई गुना फायदा होने लगा । 'लूट' इतने व्यापक स्तर पर थी जिससे ब्रिटेन का औद्योगिक स्वरूप जगमगा उठा था । यही नहीं ब्रुक्स एडम्स ने तो अपनी पुस्तक 'दि लॉ ऑफ, सिविलाइजेशन एण्ड डिके' में ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति में भारतीय पूंजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका बताई है—

"प्लासी की लड़ाई 1757 में हुई और इसके बाद अभूतपूर्व तेजी से बहुत सारे परिवर्तन हुए । 1760 में तेज चलने वाली ढरकी-भरनी का आविष्कार हुआ और लोहा पिघलाने के जलावन के रूप में लकड़ी के बदले कोयले का इस्तेमाल हुआ । 1764 में हारग्रीव्स ने सूत कातने वाली मशीन का आविष्कार किया, 1776 में क्राम्पटन ने एक ही साथ कई सूत कातने और उन्हें बटने वाली मशीन, 1782 में कार्टराइट ने मशीन से चलने वाले करघे का पेटेंट कराया, और इन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि 1768 में जेम्सवाट ने भाप से चलने वाले इन्जिन को पूरा कर लिया······भारतीय धन के अन्तरागम के पूर्व और तज्जन्य वाणिज्यिक साख और विश्वास के बिना (ब्रिटेन के

औद्योगीकरण के लिए आवश्यक) शक्ति वहा उपलब्ध नही थी अगर वाट पचास साल पहले हुआ होता तो निश्चय ही वह और उसका आविष्कार नष्ट हो गए होते। सभवत: सृष्टि के प्रारंभ से आज तक कही भी पूजी लगाने पर इतना फायदा नहीं हुआ है जितना भारत की लूट से ब्रिटेन को हुआ है।" (ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 64-65 से उद्धृत)

इस तरह ब्रिटेन का औद्योगिक विकास और भारत की हस्तशिल्पकला का ह्रास दोनों बड़ी तेजी से साथ-साथ चलने लगे। अग्रेजो ने भारतीय उद्योग को नष्ट करने मे कोई कसर नहीं छोड़ी। यहां के माल पर बाहर जाने के लिए प्रतिबन्ध, अन्धाधुन्ध टैक्स और चुगियां लगाकर विश्व की अद्वितीय भारतीय हस्तकला का विनाश अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिए सत्ता की आड़ लेकर कर दिया। भारतीय उद्योग के विनाश पर होरेस विल्सन ने दुख प्रकट करते हुए लिखा है—

"भारत के साथ सूती माल के व्यापार का इतिहास एक दुखद प्रसग है। इससे पता चलता है कि जिस देश पर भारत आश्रित हो चुका था उसने भारत के साथ कैसा अन्याय किया ··· यदि प्रतिरोधक कर और कानून नही होते तो पेजली और मैनचेस्टर की मिलें शुरू मे ही बंद हो जाती, और भाप की ताकत से भी उन्हें फिर चला पाना सभव नही होता। भारतीय निर्माण उद्योग की बलि चढ़ाकर ही ब्रिटिश उद्योगो की सृष्टि की गई···ब्रिटिश उद्योगपतियों ने राजनीतिक प्रभुता और अनीति की मदद से अपने भारतीय प्रतियोगियों को दबाए रखा और अन्ततोगत्वा उन्हे पूरी तरह समाप्त कर दिया यद्यपि बराबर की लड़ाई मे वे (ब्रिटिश उद्योग) टिक नही पाते।" (वही, पृष्ठ 65-66 से उद्धृत)

अत. ब्रिटेन की औद्योगिक नीति ने भारत के औद्योगिक ढाचे को बर्बाद कर दिया। इसके परिणामस्वरूप बेकारी और भुखमरी का सिलसिला प्रारंभ हुआ। भारतीय मजदूर बेकार होते गए। उनकी आर्थिक स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती चली गई। और वे पूरी तरह अंग्रेजी सरकार और उसके कर्मचारियों पर आश्रित हो गए। भारतीय मजदूर की इस मजबूरी का अंग्रेजो ने खूब फायदा उठाया। उन्होंने भारतीय मजदूर का शोषण करने मे हर तरह के शासकीय हथकण्डे, यातनाएँ, दुर्व्यवहार आदि से उसे बाँध दिया जिससे उसके सामाजिक परिवेश का अस्तित्व खतरे में गिरता गया। यह पूरा-का-पूरा आर्थिक बदलाव भारत के सामाजिक स्तर को तहस-नहस करता चला गया। क्योंकि कुटीर उद्योग-धन्धे अधिकतर देहात मे थे। गांव के लोग अपनी तमाम जरूरतें इसी व्यवसाय से पूरी करते थे परन्तु मशीनी व्यवधान ने इस 'सामुदायिक' व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला। भारत ब्रिटेन की मिल्कियत मे आता गया—

"ब्रिटेन और अन्य देशो की मशीनो से बनी सस्ती वस्तुओं की भारत मे जो बाढ़ आई, वह ग्रामीण शिल्प के ह्रास का मूल कारण था। रेलवे और बसों की मदद से हर सामान आसानी से गांवो मे पहुंचने लगा।" (वही, पृष्ठ 74)

रेल और बसो से गांव को यातायात की सुविधाओं से जोड़ा जाने लगा। यह रेल भारतीयो को सुविधा देने के लिए नही अपितु अंग्रेजों को अपना दुहरा हल निकालने के

लिए भारत मे लाई गई थी। एक तो भारत के अन्दर से कच्चा माल समुद्र के किनारे वाले बन्दरगाहो तक पहुचाना आवश्यक था। दूसरे, इसका सामरिक दृष्टि से बहुत महत्व था। भारतीय विद्रोहियों को दूर-दूर कोनो में रेल मार्ग से शीघ्रता से दबाने मे अंग्रेजो को अन्य यातायात के साधनो की अपेक्षा रेल अधिक सुविधाजनक थी। रेलवे के निर्माण की आवश्यकता पर तत्कालीन भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी (1848-56) ने लिखा था—

"उसके बनने मे भारत को जो व्यावसायिक और सामाजिक लाभ होंगे, उनका अनुमान अभी नही लगाया जा सकता"'इग्लैंड रुई का पुरजोर आह्वान कर रहा है जिसे भारत कुछ हद तक पैदा कर रहा है और काफी बढ़िया तथा प्रचुर मात्रा में रुई पैदा करेगा, अगर दूर के स्थानों के बन्दरगाहो तक जहा से जहाजो पर लादकर वह भेजी जा सके सिर्फ उसे पहुचा देने के साधनो की उचित व्यवस्था कर दी जाए। व्यापार की सुविधाओं की प्रत्येक वृद्धि के साथ जैसाकि हम लोगो ने देखा है, योरप में बने माल की माग में वृद्धि भारत के सबसे दूर के बाजार में हुई है'''भूमण्डल के इस तरह के हिस्से मे नए बाजार हमारे लिए ऐसी हालातो मे खुल रहे है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान आदमी की दूरदर्शिता भी उसके भविष्य की सीमा गणना नही कर सकती।" (अयोध्यासिंह भारत का मुक्ति सग्राम, 1977, पृष्ठ 10-11 से उद्धृत।)

कार्ल मार्क्स ने भारत मे रेलो के आगमन पर लिखा था—

"मैं जानता हू कि अंग्रेज उद्योगपति केवल इसलिए भारत मे रेले बिछाना चाहते हैं कि वे रुई और अन्य कच्चा माल अपने कारखानो के लिए कम खर्च पर प्राप्त कर सकें।" (न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून के 8 अगस्त 1853 के अक मे प्रकाशित "भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणाम" शीर्षक लेख कार्ल मार्क्स-फेडरिक एंजिल्स—संकलित रचनाए, भा० 1)।

इस तरह पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति ने भारत के आर्थिक ढाचे को तोडकर उसे अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल किया। पूरा भारत इंग्लैण्डवासियों के इस औद्योगिक शिकंजे में फसकर अपनी अस्मिता खो बैठा। भारत के परपरागत सभी उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए। मजदूर कारीगर और कुटीर उद्योगो पर आश्रित अन्य शिल्पकार बडी तादाद मे बेरोजगारी की समस्या मे जूझने लगे मजबूरन उन्हे बधुआ मजदूरी का आश्रय लेना पडा जिसके परिणामस्वरूप उनकी समूची भावी पीढ़ी धनी लोगों के यहां सदैव-सदैव के लिए गुलाम बनती गई। और वे जानवरों की तरह इधर-से-उधर भेजे जाने लगे।

भारतीय कृषि तथा जमींदारी व्यवस्था

भारत गावों का देश है। यहां का मुख्य व्यवसाय खेती रहा है। किसान परंपरागत रूप से सामुदायिक भावना से कृषि कार्य करते आए है। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व पूरा देश

ग्राम-स्तर पर खेती करता था। उसकी तमाम जरूरत की चीजें गांव मे ही कुटीर उद्योग-धन्धों में बनती थी। गांव के शिल्पकार और दूसरे लोग समुदाय के रूप मे खेती से जुड़े हुए थे। भारत की खेती यहां का मुख्य व्यवसाय होने के कारण अपने आप मे आत्मनिर्भर थी। कार्ल मार्क्स ने इस सामुदायिक व्यवस्था पर कहा था—

"हिन्दुस्तान के वे छोटे-छोटे तथा अत्यंत प्राचीन ग्राम समुदाय (समाज) जिनमे से कुछ आज तक कायम है, जमीन पर सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी के मिलाप और एक ऐसे श्रम विभाजन पर आधारित है जो कभी नही बदलता, और जो जब कभी एक नया ग्राम समुदाय आरम्भ किया जाता है तो पहले से बनी-बनाई और तैयार योजना के रूप मे काम में आता है। सौ से लेकर कई हजार एकड़ तक के रकबे मे फैले हुए इन ग्राम समुदायों (समाजो) मे से प्रत्येक एक गठी हुई इकाई होता है। जो अपनी जरूरत की सभी चीजे पैदा कर लेती है। पैदावार का मुख्य भाग सीधे तौर पर समुदाय के ही उपयोग मे आता है, और वह माल का रूप धारण नही करता···हिन्दुस्तान के अलग-अलग हिस्सों मे इन समुदायों (समाजों) का विधान (गठन) अलग-अलग ढंग का है। जिनका सबसे सरल विधान (गठन) है, उन समुदायो मे जमीन को सब मिलकर जोतते हैं और पैदावार सब सदस्यो के बीच बांट ली जाती है। इसके साथ-साथ हर कुटुंब मे सहायक धन्धों के तौर पर कताई और बुनाई होती है।···इन आत्म-निर्भर ग्राम समुदायों (समाजो) में पुनः प्रकट होते रहते हैं और जब अकस्मात बरबाद हो जाते है तो उसी स्थान पर और नाम से फिर खड़े हो जाते है। उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढग का होता है। उसकी यह सरलता ही एशियाई समाजों की अपरिवर्तनशीलता की कुंजी है, उस अपरिवर्तनशीलता की जिसके बिल्कुल विपरीत एशियाई राज्य सदा बिगड़ते और बनते रहते है और राजवंशों मे होने वाले परिवर्तन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। राजनीति के आकाश मे जो तूफानी बादल उठते हैं वे समाज के आर्थिक तत्वो के ढाचे को नही छू पाते।" (पूंजी, खण्ड-1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृ० 404)

भारत के आत्म-निर्भर गावो की यह विशिष्टता जग-जाहिर थी। वह अपनी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति अपने सामुदायिक कार्य विभाजन द्वारा करते थे। शासन ने भी इनके कार्य मे कभी हस्तक्षेप नही किया। इनकी अपनी अर्थव्यवस्था पारंपरिक थी जोकि समाज के साथ लगी चली आ रही थी। ए० आर० देसाई ने इस व्यवस्था के बारे में लिखा है—

"राजा किसी प्रकार का हो, दयालु या क्रूर, परोपकारी या निरंकुश, हिन्दू या बौद्ध या मुस्लिम—कभी यह कोशिश नही हुई कि ग्राम समुदाय को जमीन से वंचित किया जाए या जमींदारो का कोई वर्ग स्थापित किया जाय यह इस बात का प्रमाण है कि जमीन को कभी राजा की सम्पत्ति नही समझा गया। ग्राम समुदाय ही गांव की सम्पत्ति का वास्तविक अधिकारी था। शहंशाह या राज्य का सालाना फसल के अंश मात्र पर ही अधिकार था। दूसरी तरफ किसी खास किसान का भी जमीन पर कोई निजी हक नही था। प्राक् ब्रिटिश भारत में भूमि पर किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत स्वत्व नहीं था।" (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 30-31)

इस प्रकार की कृषि व्यवस्था का स्वरूप सामूहिक था जिसमें संयुक्त परिवार और समुदायवादी दृष्टिकोण के आधार पर सहयोग की भावना बलवती थी। व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए अब तक कोई जगह नहीं थी।

परन्तु ईस्ट इण्डिया कंपनी की भारत विजय के बाद सबसे पहली कुदृष्टि भारत की इस सामुदायिक कृषि व्यवस्था पर ही पड़ी। उसने सर्वप्रथम इसके सामुदायिक रूपों को तोड़कर उसे इकाइयों के रूप में बाँट दिया। सन् 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने जो कि उस समय भारत का गवर्नर-जनरल था। कंपनी के आर्थिक और प्रशासनिक स्वरूप को मजबूत करने के लिए उसने किसान और सरकार के बीच स्थायी बन्दोबस्त के अनुसार जमींदारों के नए वर्ग का सृजन किया। ये जमींदार अपनी-अपनी जमींदारी के स्वतंत्र मालिक बना दिये गए और उनसे 'कर' के रूप में मालगुजारी की एक मुश्त-वार्षिक राशि नियत कर दी गई। ये भारतीय जमींदार अब सरकार की बजाय स्वयं किसानों से लगान वसूल करने के अधिकारी बन गए। इस तरह कंपनी सरकार की मालगुजारी की आय सदा के लिए निश्चित हो गई और जमींदार लोग जमीन छिनने और अधिकार भंग होने के डर से कंपनी के वफादार अधिकारी के रूप में अंग्रेजों से भी अधिक भारतीय जनता को मुस्तैदी दिखाने लगे।

इस प्रबन्ध से किसानों को कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि जमींदार निरंकुश होकर उनसे मनमाना लगान वसूल करते थे। उनकी फसली हालत को उन्होंने कभी नहीं देखा। फसल चाहे अच्छी हुई हो अथवा खराब, अकाल पड़ा हो अथवा सूखा या बाढ़ से फसल नष्ट हो गई हो जमींदार को इन बातों से कोई सरोकार नहीं था। वह लगान वसूल करने और कंपनी का वफादार होने में किसानों के साथ बेहद सख्ती से पेश आता था। उसके व्यवहार में भारतीय मानवता नष्ट हो गई। जमींदार की कारगुजारियां एक वर्ग-चरित्र में परिवर्तित हो गई। जमींदारी व्यवस्था लागू होने के कारणों पर ए० आर० देसाई ने लिखा है—

"भारत की पुरानी भूमि व्यवस्था पर अंग्रेजों ने ही पहली गहरी चोट की। उन्हें खासकर तीन बातों से जमींदारी प्रथा लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ा। एक, ईस्ट इण्डिया कंपनी जमीन के बन्दोबस्त की न्यायिक एवं आर्थिक धारणाएं ही अपना सकती थी। इंग्लैंड का आर्थिक अतीत भारत से मूलतः भिन्न था। अंग्रेजी जमींदारी प्रथा जमीन के व्यक्तिगत स्वामित्व की परंपरा और भावना में जन्मी और फली-फूली थी, जिसके लिए भारत के आर्थिक इतिहास में कोई मिसाल नहीं थी। दो, प्रशासकीय दृष्टि से ब्रिटिश शासन के शुरू के दिनों में लाखों छोटे किसानों की अपेक्षा कुछेक हजार जमींदारों से लगान की वसूली आसान और आर्थिक दृष्टि से लाभजनक थी। तीन, नवजात अंग्रेजी राज को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से, देश में सामाजिक समर्थन की आवश्यकता थी। ऐसी आशा स्वाभाविक थी कि यह जमींदारों का नया वर्ग जो ब्रिटिश शासन के चलते ही जन्मा-बना, अवश्य ही इस शासन की मदद करेगा।" (वही, पृष्ठ 31)

यह जमींदारी प्रथा भारतीय अर्थव्यवस्था के बिल्कुल विपरीत थी। किसान और

सरकार के बीच यह जमीदारों का नया मध्यस्थ वर्ग भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एकदम नया और अजूबा था। अंग्रेज इन्हे 'लेण्डलॉर्ड्स' के नाम से जानते थे। ये जमीदार किसान की जोत मे आने वाली जमीन की बिना पैमाइश किए, प्राकृतिक प्रकोपो को बिना देखे उनसे बर्बरता से लगान वसूल करते थे। अत. इस व्यवस्था के बडे भयकर परिणाम निकले, क्योंकि जमीदार कभी भी किसान की खुशहाल फसल के लिए प्रयत्न नही करता था। फसल अच्छी हो या बुरी उसे इससे कोई सरोकार नही। उपयुक्त सिंचाई आदि के साधन न होने से किसान अधिक पैदावार लेने मे अक्षम रहा। परन्तु सरकार को वह बंधी-बधाई रकम देने को बाध्य था। अत' किसान प्रतिवर्ष अच्छी फसल के लालच मे जी-तोड़ मेहनत करने पर भी कभी चैन से नही रह सका। वह गरीबी, कर्ज और कमजोरी की लपेट मे इन्ही जमीदारो के यहा गुलामी करने के लिए बाध्य होता चला गया। दूसरे, एक महत्वपूर्ण बात यह और थी कि जमीदारो ने भी अपनी शान और शौकत बनाये रखने के लिए और किसानों को आतकित करने के लिए पटवारी, कारिन्दे और जिलेदार नियुक्त कर रखे थे। ये कारिन्दे और जिलेदार किसानों को लगान वसूल करते समय बहुत तंग करते थे। उनका सार्वजनिक अपमान, पिटाई और बहन-बेटी की इज्जत से खुले-आम खिलवाड की इनकी आदत बन गई थी। साइमन रिपोर्ट मे इनके बारे मे कहा गया है—

"कुछ जिलों मे उपमामंतीकरण इस आश्चर्यजनक सीमा तक पहुंच गया है कि सबसे ऊपर जमीदार और सबसे नीचे काश्तकार के बीच पचास से भी अधिक मध्यस्थ स्वार्थ विद्यमान है।" (साइमन कमीशन रिपोर्ट, जिल्द प्रथम, पृ० 340) ए० आर० देसाई ने इसी शोषण को एक कथा का रूप देकर प्रस्तुत किया है—

"फलस्वरूप खेती करने वाले किसान एक अनुक्रमिक श्रेणी शृंखला की अन्तिम निम्नतम कड़ी हैं और उन्हे लगान वसूल करने वाले गैर काश्तकार लोगों की बहुत बड़ी फौज का भार संभालना पड़ा है। अलिफ-लैला में नाविक सिन्दबाद की पीठ पर जो समुद्री बूढ़ा सवार हुआ था, वैसे बहुत सारे बूढे भारतीय किसान की पीठ पर सवार थे। किसान को इन सारे लोगो को दिए जाने वाले सामान का दुर्वह असह्य भार होना था।" (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 54)

इन जमीदारों ने कभी भी किसानों की बदतर हालत के लिए प्रयत्न नही किया उल्टे उन्हे चूस-चूसकर मनमाना लगान वसूल कर पंगु कर दिया। किसानों से अधिकाधिक लगान वसूल करना ही उनका उद्देश्य बना रहा। अतः किसानों की दशा गिरती चली गई। इस शोषण का मूल कारण यह था कि भारतीय जमीदार अंग्रेजों द्वारा खरीदे हुए खिलौने थे, जिन्हे वे अपनी मर्जी के मुताबिक अपने इशारो पर नचाते रहते थे। इसलिए जमीदार अग्रेजों को खुश रखने मे कोई कसर बाकी नही, छोड़ते थे। उनके सम्मान मे वे सिर झुकाये ही रहते थे। जो जमीदार अग्रेजो का विरोध करता था, जैसाकि 1827 में भारत के प्रथम स्वतत्र संग्राम मे हुआ उसे अग्रेजो ने समूल उखाड दिया और उनकी जगह नये जमीदार इस तरह के लिखित आदेश के साथ बहाल किये गए कि वे अग्रेजों के देश-भक्त बने रहेंगे—

"तल्लुकेदारों को यह जमींदारी इनाम-स्वरूप मिली थी, इसलिए उन्हें जो प्रमाण-पत्र दिये गए थे, उनमें यह भी लिखा गया कि यह वर्णित भू-भाग इन्हें और इनके उत्तराधिकारियों को सदैव के लिए दे दिये गए। उनके साथ यही शर्त थी कि राजभक्त बने रहेंगे और भूमि की उपज का आधा सरकार को मालगुजारी देते रहेंगे।" (आर० आर० मौर्य : उत्तर प्रदेश भूमि विधियां, 1976 पृ० 11)

इस तरह इस शोषण की लम्बी श्रृंखला में किसान शोषित के रूप में बंधता गया उसका कर्ज और गरीबी उसकी संतान को विरासत में मिलती गई तो दूसरी ओर जमींदारों की सन्तान को अधिकार और संपत्ति उत्तराधिकार के रूप में। हर्षदेव मालवीय ने इस शोषणपरक लगानबंदी के बारे में लिखा है—

"देश में लगान की दर उत्पादन की 34 से 75 प्रतिशत तक थी।" (लैण्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया, 1955, पृ० 450) इस आर्थिक तंगी में किसान, जमींदार और अन्य प्रशासनिक वर्ग की अनियमितताओं के साथ-साथ सेठ, साहूकार, महाजन आदि के कर्ज में भी डूबता चला गया। अपना और अपनी संतान का पेट भरने के लिए उसने अनचाहे-अनजाने कदमों पर कितने ही समझौते किये, जिससे उसकी रीढ कभी भी सीधी नहीं हुई।

यह लगान बन्दोबस्ती भारत में एक जैसी नहीं थी। क्षेत्र विशेष और वहां की आबोहवा को देखकर ही अंग्रेजों ने इस तरह की व्यवस्था स्थान-भेद के कारण की थी। स्थायी बन्दोबस्त ब्रिटिश-भारत के बंगाल, बिहार और उडीसा प्रान्तों में था।

रैयतवाड़ी प्रथा

भूमि-सुधार के नाम पर अंग्रेजों ने देश की कृषि-व्यवस्था को कई रूपों में बांटा था। स्थायी बन्दोबस्त जिसमें जमींदार कायम किये गए थे यह व्यवस्था पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा और बंगाल में लागू की गयी। लेकिन कुछ भागों में उन्होंने किसानों की निजी मिल्कियत के आधार पर उन्हें सीधा-सीधा जमीन का मालिक बनाया। किसान अपनी जोत का स्वयं अधिकारी था। वह एक बंधी-बंधाई निश्चित रकम सरकार के खजाने में जमा करता था। इस प्रथा को रैयतवाडी प्रथा के नाम से जाना गया।

रैयतवाडी प्रथा में किसान और सरकार के बीच कोई मध्यस्थ नहीं था। किसान को अपनी जमीन को बेचने, खरीदने, गिरवी रखने और उसे भेंट में देने का पूरा अधिकार था। इस प्रथा को लागू करने के पीछे जमींदारी प्रथा की कुछ भूलें थीं। अतः सर टामस मनरो ने जो उस समय मद्रास का गवर्नर था यह रैयतवाडी सिस्टम प्रारंभ किया—

"उसके अनुसार यह प्रथा परंपरागत संगत थी, इसलिए जब वह मद्रास का गवर्नर था उसने 1820 में उस प्रान्त में इस व्यवस्था की शुरुआत की और उसके बहुत बड़े

भाग में इसे लागू किया गया। बाद में रैयतवाड़ी प्रथा दूसरे प्रान्तों में भी लागू हुई। यह प्रथा बम्बई, सिंध, बरार, मद्रास, आसाम और कुछ और इलाकों में भी। कुल मिला कर ब्रिटिश भारतीय भूभाग के 51 प्रतिशत भाग में प्रचलित थी।" (ए० आर० देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 32)

परन्तु यह अंग्रेजों का दृष्टिकोण नितान्त भ्रामक था कि रैयतवाड़ी प्रथा भारतीय परंपरा के अनुकूल है। सत्य इसके ठीक विपरीत था—

"रैयतवाड़ी प्रथा भारतीय परिपाटियों के अधिक नजदीक समझी गई और इसलिए उसका समर्थन किया गया। लेकिन वस्तुतः इसके अनुसार भी जमीन का निजी बन्दोबस्त किया गया और भूमि-कर फसल के बदले जमीन को आधार बनाकर तय किया गया। इस प्रथा ने भारतीय संस्थाओं का वैसे ही हनन किया जैसे जमींदार प्रथा ने।" (रजनीपामदत्त : आज का भारत, पृ० 213)

अतः इस नई व्यवस्था में खड़ी जमीन को आधार मानकर लगान की वसूली सरकार द्वारा की जाती थी। फसल कैसी और कितनी तथा कितने भू-भाग पर हुई है। इससे सरकार को कोई सरोकार नहीं था। इस तरह की अनदेखी व्यवस्था का बड़ा घातक परिणाम निकला। एक तो किसान सामुदायिक उत्तरदायित्व से कटा दूसरे वह मुसीबत और परेशानी में अकेला भागीदार हुआ। यद्यपि उसके और सरकार के बीच कोई मध्यस्थ नहीं था फिर भी इस तरह की मुकम्मिल लगानबन्दी उसके माफिक नहीं थी। क्योंकि प्राकृतिक प्रकोपों, अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि के कारण उसकी नष्ट हुई फसल पर कोई लगान की छूट नहीं थी अतः वह कर्ज लेकर ही अपनी जान छुड़ा पाता था। इस व्यवस्था ने सूदखोर महाजन, साहूकार और ब्याज खाने वाले लोगों को भी पैदा किया और किसान सरकार और सूदखोरों के बीच अकेला कराह-कराहकर पिसता रहा—

"किसानों से पैसा चूसने के लिए ये साहूकार कानूनी तरीकों के अलावा जाल-साजी से भी काम लेते थे, जैसे मूल से अधिक का शर्तनामा लिखवाना, गलत हिसाब रखना इत्यादि। वे किसान की गरीबी और उसके अज्ञान का भी फायदा उठाते थे। अपनी अनभिज्ञता के कारण किसान को जाल-साजी का पता नहीं लग पाता था, और इस तरह वह कानूनी कार्रवाई नहीं कर पाता था।" (ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 48)

किसान और महाजन की स्थिति पर रायल कमीशन ने भी अपनी यही रिपोर्ट प्रस्तुत की थी—

"भारतीय किसान प्रायः लाभ और प्रतिफल के लिए नहीं, वरन जीवन निर्वाह के लिए खटता था। भूमि की अति संकुलता और जीवन निर्वाह ने वैकल्पिक साधनों एवं अपनी दुर्दशा से बचने के उपायों की कमी—इन सबके कारण कहीं भी, किसी भी शर्त पर फसल उगाने को किसान लाचार था। खाद्य सामग्री के लिए उसे जमीन की जरूरत है और जमीन के लिए उसे महाजन की मिन्नत चिरौरी करनी पड़ती है। यद्यपि जितनी उसकी चल-अचल संपत्ति है उससे अधिक उस पर महाजन का ऋण है, जहां उसकी

जमीन महाजन के हाथ में चली गई है, वहां किसी भी कायदे-कानून से उसकी जरूरतें पूरी नहीं हो सकती, काश्तकार का कोई भी कानून उसकी रक्षा नहीं कर सकता।" (वही, पृ० 49)

इस तरह भारतीय किसान किसी भी तरह सुखी नही था। उसे कानूनन सरकार के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट करने का हक तो था लेकिन वहां तक उसके पहुंचने की सामर्थ्य अब उसमे नही रह गई थी। क्योंकि सरकारी कर्मचारियों ने कभी भी उसकी दयनीय स्थिति की परवाह नही की और न कभी उसकी स्थिति से सरकार को परिचित कराया उल्टे, सख्ती और जब्ती से लगान वसूल कर सरकार को किसानों से परामुख बना दिया। इस तिहरे शोषण में किसान टूटता चला गया।

क्योंकि औद्योगिक क्रांति से उसके तमाम कुटीर उद्योग-धंधे बर्बाद हो गये थे। वह अपने हाथ की दस्तकारी छिन जाने के कारण खेती पर मजबूरन आश्रित हुआ लेकिन खेती की इस जमींदारी और रैयतवाडी प्रथा ने उनका कई रूपो मे रक्त चूसा और उसे बेजान कर दिया, उसकी सामाजिक शक्ति के साथ-साथ शारीरिक शक्ति का भी ह्रास होता चला गया और वह गुलामो जैसी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हो गया। उसके लिए इस जलते भाड़ मे कही भी ठंडक नही मिली। और धीरे-धीरे वह कृषि दास, खेतिहर मजदूर और सर्वहारा के वर्गो में बंटता गया। और उसकी पीठ पर जमींदार, सेठ, महाजन, सूदखोर, सरकारी अमला फैला और बड़े-बडे भू-स्वामी बैठते गए जिसके परिणाम स्वरूप वह कभी भी उठ न सका।

राष्ट्रीय आंदोलन और उसका चरित्र

सन् 1757 को क्लाइव की प्लासी के मैदान की फतह ने अंग्रेजों के मनसूबों को बदल दिया। अंग्रेज इंग्लैंड से मात्र व्यापारी के रूप मे भारत मे आए थे परन्तु यहा की परिस्थितियों ने उन्हे शासक बना दिया। यहा की रुग्ण और कमजोर शासन व्यवस्था ने उनके आगे बढने के तमाम द्वार खोल दिए। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से यहा के नरेशों और नवाबों को आपस मे भिड़ा-भिड़ाकर शक्तिहीन कर दिया और 1765 मे बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रान्तों में कर वसूलने को पहला शासकीय अधिकार प्राप्त किया। धीरे-धीरे यहा के नवाबो की अमलदारी मे सीधा दखल देते हुए उन्हे पराजित कर वे दक्षिण और पूर्वी भारत मे एक नई राज शक्ति के रूप में उभरे। राजनीतिक स्तर पर उन्होंने यहा के राजा और नवाबों को अपने मातहत कर लिया। और धीरे-धीरे वे यहा के आन्तरिक प्रशासन अर्थव्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने लगे।

क्योंकि उन्होंने जमींदारी प्रथा, रैयतवाडी प्रथा आदि आर्थिक कार्यक्रम लागू करके भारतीय किसान और उनके बीच सैकड़ों मध्यस्थ पैदा किए थे। ऐसा उन्होंने प्रशासन

को गति देने के लिए नहीं किया अपितु अपने को जनता से सीधे टकराव से बचाकर भारतीयों द्वारा भारतीयों का ही शोषण कराया और स्वयं बिना किसी परेशानी के नवाबों और जमींदारों को अपनी कठपुतली बनाकर नचाते रहे। इस दुहरे-तिहरे शोषण से भारतीय किसान तंग आ गया था। कर्ज और गुलामी से उसकी कमर टूट गई थी। उसके कुटीर उद्योग-धंधों के विनाश से उसकी परंपरा का अंत तो हुआ ही दूसरे उसे इस नई आर्थिक लगानबंदी की व्यवस्था ने ग्रसना प्रारंभ कर दिया।

इधर कम्पनी शासन के साथ-साथ उनकी ईसाई मिशनरियां भारत के सामाजिक स्वरूप को विघटित करने लगी। धर्म-परिवर्तन और उससे मिलने वाले शासकीय लाभ-लोभ ने उनके सामाजिक जीवन को भी खतरे में डाल दिया। अप्रैल 1850 का 'लेक्स लोकी' कानून लार्ड डलहौजी ने भारी विरोध के बावजूद लागू किया था। इस पर उदारवादी अंग्रेजों ने विरोध प्रकट किया था और भारतीय जनजीवन के उसे विपरीत बताकर उसके भयंकर परिणामों की भी भविष्यवाणी इस कानून के स्वरूप को देखकर ही की गई थी। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले पत्र 'इंगलिशमैन' ने 15 अप्रैल, 1850 वाले अंक में इस कानून की तीव्र भर्त्सना करते हुए लिखा था—

"यह नोट रखना बेहतर होगा कि 11 अप्रैल, 1850 का दिन भारत से अंग्रेजों को निकाल बाहर करने का पहला वैधानिक कदम होगा।" (अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 34 से उद्धृत)

इधर अंग्रेजों की हड़प नीति ने भारतीय देशी सामंतों को उनके गोद लेने की प्रथा समाप्त कर उनके राज्य को अपने राज्य में मिलाने से उन्हें असंतुष्ट कर दिया। अंग्रेजों की इस साम्राज्यवादी नीति का बड़ा घातक परिणाम निकला। सतारा, नागपुर, झांसी, संभलपुर, जैतपुर आदि अनेक रियासतें अपने इस पुश्तैनी हक से वंचित किए जाने पर वे इस शासन से रुष्ट हो गईं। इस तरह अंग्रेजों के खिलाफ पहला संघर्ष का वातावरण 1857 में बना जिसका मूल उद्देश्य भारत से अंग्रेजी शासन का अंत था —

"भारत पर ब्रिटेन के निरंकुश शासन के कारण औद्योगिक बुर्जुवाजी को भारत का अनियंत्रित औद्योगिक विकास करने में दिक्कत हो रही थी। राज्य व्यवस्था के प्रमुख पदों पर अंग्रेजों के एकाधिकार के कारण, शिक्षित वर्ग के लोगों को नौकरियां प्राप्त करने की अपनी न्यायसंगत आकांक्षा की पूर्ति में दिक्कत हो रही थी। धरती के बेटे किसान यह देखते थे कि अंग्रेजों द्वारा लाई गई नई भू-राजस्व व्यवस्था उनकी बढ़ती हुई गरीबी का कारण थी। सर्वहारा मजदूर वर्ग के लोग देखते थे कि यह विदेशी अप्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था उन्हें अपनी हालत सुधारने और जिस मजदूरी तंत्र में उनका शोषण हो रहा था उसे बदलने के लिए आवश्यक वर्ग-संघर्ष को विकसित करने से रोक रही थी।" (ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 246)

अतः इन सबका परिणाम 1857 का महाविद्रोह हुआ। जिसमें राजघरानों से लेकर सामान्य जनता ने अंग्रेजी शासन को उखाड़ने का संकल्प लिया था। परन्तु अपनी आंतरिक कमजोरियों से यह सफल नहीं हुआ यह दूसरी बात थी। इस विद्रोह को साम्प्रदायिक और सिपाही विद्रोह कहकर असलियत को छुपाने की अंग्रेजी सरकार की

नीयत थी परन्तु ऐसा नही था। यह सशस्त्र स्वाधीनता संग्राम भारतवासियों की मूल चेतना से जुडा हुआ था। पडित जवाहरलाल नेहरू ने सन् सत्तावन की क्राति को आकस्मिक घटना न मानते हुए सैकड़ो वर्षों के क्षोभ और असन्तोष को इसका मूल कारण बताया था—

"देश-भर में अंग्रेजो के खिलाफ बडा असंतोष और गुस्सा था।" (विश्व इतिहास की झलक, 1962, पृ० 576)

लेकिन इसमे सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह थी कि यह असंगठित विद्रोह था। इस विद्रोह मे कुछ नए जमीदारो, ताल्लुकेदारो और नवाबों ने भी साथ नही दिया उल्टे ब्रिटिश शासन की हर तरह से इस विद्रोह को दबाने में मदद की थी।

1857 के बाद देश ब्रिटिश पार्लियामेट के अधिकार मे चला गया। अब तक कपनी के अधिकार का भारत अब ब्रिटेन की महारानी के अधीन हो गया। परन्तु यह परिवर्तन मात्र भारतीयो को झासा था। इस परिवर्तन मे अग्रेजो की शोषण नीति में कोई अतर नही आया था उल्टे भारत की जनता पर अविश्वास, दमन और बर्बरता का व्यवहार किया गया। देश की प्रत्येक गतिविधि अब इस शासन में नजरबद थी।

क्योंकि कुछ देशी नरेशो ने अंग्रेजो का साथ दिया था तथा कुछेक की रियासतो को अग्रेजी सरकार ने अपने राज्य में नही मिलाया था इसलिए वे अग्रेजों के और अधिक वफादार बन गए। और जनता पर जुल्म का दौर और अधिक तेज हो गया। परन्तु जनता अब उठ खडी हुई थी, उसने सशस्त्र सग्राम से 1857 में अंग्रेजो की जडे हिला दी थी। अतः वे अब पूर्ण स्वतत्रता के जन-सघर्ष के माध्यम से पुनः आदोलित हुए—

"देश में इस नयी नीति का महत्वपूर्ण परिणाम निकला। जब कालक्रम से देशी रियासतो के लोग अपनी दमनात्मक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के प्रति जागरूक हुए और रजवाड़ो के निरकुश शासन के विरुद्ध प्रतिनिधि सरकार और अन्य जनतात्रिक मागों के लिए सगठित होने लगे तब उन्हें अनिवार्यतः ब्रिटिश शासन से भी संघर्ष करना पडा, क्योकि ब्रिटिश सरकार इन रजवाडो की रक्षा के लिए वचनबद्ध थी। इस तरह रियासतो की जनता का सघर्ष ब्रिटिश भारत की जनता के स्वतत्रता संग्राम के साथ एक स्रोत मे मिल गया और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध समस्त भारतीय जनता के संयुक्त अखिल भारतीय आन्दोलन का जन्म हुआ।" (ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 25)

1857 के बाद देश मे नई जागृति पैदा होने लगी। जिस तरह लार्ड डलहौजी ने 1857 की क्रान्ति के लिए अपनी हड़पनीति को लागू किया था ठीक उसी तरह भारत के पुनर्जागरण के लिए लार्डलिटिन के काले कारनामे-1877 के बेहद खर्चीले, और दिल्ली दरबार का उस समय आयोजन जब देश मे भयकर दुर्भिक्ष पड़ रहा था, 1878 के वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, जो भारतीय प्रेस की स्वतत्रता पर अकुश लगाने के लिए ही जारी किया गया था, के कारण जन-असंतोष बेकाबू हो गया और 1857 से बड़े और भयानक विस्फोट की स्थिति बन गई।

परन्तु यह भारतीय जन-क्रान्तियों का प्रारम्भ से ही दुर्भाग्य रहा है कि अपार जन-

शक्ति और उत्साह होने पर भी वे कभी अपना संपूर्ण लक्ष्य नहीं पा सकी क्योंकि उन्हे स्वार्थी नेतृत्वो के कारण सदैव मार खानी पड़ी है। अंग्रेजों के खिलाफ लड़े जाने वाले संग्रामों मे भी यही हुआ।

अग्रेजी शासन के खिलाफ भारतीय जनता में जन-असतोष बढ़ रहा था। उसी समय ए० ओ० ह्यूम नामक एक अंग्रेज अधिकारी ने इस स्थिति को बड़ी गम्भीरता से लिया। उसने इस जन-असतोष को शान्त करने के लिए मीठी मार का हथियार 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' 1885 मे बना कर इस्तेमाल किया। अंग्रेजो के लिए यह सुरक्षा कपाट के समान साबित हुआ। क्योंकि रोजाना के विद्रोह और जन-असतोष से बचने के लिए साल में एक या दो बार शालीनता के साथ बिना किसी उत्तेजना के भारतीय अपनी मागें और कठिनाइयां शासन के समक्ष इस मंच से रख सकें।

'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना से आन्दोलन की दिशा ही दूसरी ओर मुड गई। क्योंकि इस संस्था मे बड़े घरो, पूंजीपतियो, उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो को लिया गया था जिनमें डब्लू० सी० बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोज शाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले आदि थे। इन लोगों ने अपने उदारतावादी दृष्टिकोण से अंग्रेजो का सहयोग ही किया। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' भारतवासियों की कितनी हितसाधिका थी यह उसके पहले सम्मेलन 28 दिसम्बर, 1885 मे ह्यूम द्वारा दिए गए भाषण से साफ जाहिर हो रहा था। कांग्रेस के महासचिव होने के नाते उनके समापन भाषण के भाव दृष्टव्य है—

"बड़ी प्रसन्नता के साथ इस भार को ग्रहण करते हुए ह्यूम ने ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की बड़ी प्रशंसा की, और कहा कि सब उपस्थित लोग महारानी को बहुत प्यारे हैं और वे सब लोग महारानी के बच्चे है। ऐसी महामहिमामयी राजराजेश्वरी का जय-जयकार उन्हें आरम्भ में ही करना चाहिए था। लेकिन कोई बात नहीं, देर आए दुरुस्त आए। फिर अपने को राजराजेश्वरी के जूतों के फीते खोलने के भी अयोग्य बताते हुए ह्यूम ने उनका जय-जयकार सिर्फ तीन बार नहीं, तीन का तीन बार और अगर संभव हो तो उसका भी तीन बार करने का प्रस्ताव रखा। उपस्थित लोगों ने भारत-भूमि का नहीं, स्वदेश का नहीं, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रतीक महारानी विक्टोरिया का बारबार जय-जयकार किया और अपने-अपने घर चले गए।" (अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 128-129) अयोध्यासिंह ने इसके प्रारम्भिक स्वरूप पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है इसी स्थान पर आगे कहते है—

"इस तरह राष्ट्रीय आन्दोलन मे कांग्रेस का जन्म साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप से हुआ और साम्राज्यवाद के सबसे बड़े प्रतीक के जूतो के फीते खोलने के योग्य बनने में भी अपना बड़ा सौभाग्य देखने वाले, उपनिवेशवादियों की भारत सरकार के दसियों वर्ष तक विश्वस्त सेवक एलन आक्टेवियन ह्यूम कांग्रेस के जनक बने। कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि भारतीय क्रान्ति को रोकने का अस्त्र बनने के लिए पैदा की गई।" (वही, पृ० 129)

और सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि कांग्रेस मे ब्रिटिश सरकार की जी-हुजूरी करने वालों की सख्या बहुत अधिक थी। कांग्रेस के उदारवादी नेता जो कि कांग्रेस के कर्णधार

थे उन्होंने भारत की जमीन से न जुड़कर ब्रिटेन की जमीन से जुड़ना अधिक सम्मानजनक समझा वे जमींदारों और नवाबों से भी ज्यादा अपने को वफादार बताने की कोशिश में सम्मेलनों में बड़े-बड़े भाषण देने लगे। 1899 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अध्यक्ष रमेशचन्द्र दत्त ने अपने अध्यक्षीय भाषण में स्पष्ट कहा था—

"शिक्षित भारत ने अपने को ब्रिटिश राज के साथ व्यवहारतः एकाकार बना लिया है, वह ब्रिटिश राज को हमेशा बनाए रखना चाहता है और ब्रिटिश राज के प्रति वफादार है, इसलिए कि ब्रिटिश राज को जारी रखकर शिक्षित भारत अधिकाधिक स्वायत्त शासन और पृथ्वी के आधुनिक राष्ट्रों के बीच स्थान प्राप्त करना चाहता है। इन्हीं को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है और इन्हीं के लिए हमारा प्रयास है।" (इण्डियन नेशनल कांग्रेस 1899 की रिपोर्ट, अध्यक्षीय भाषण) इसी तरह का विचार 1892 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अभिव्यक्त किया था—

"हम एक महान और स्वतंत्र साम्राज्य के नागरिक हैं और दुनिया के अब तक के सर्वोत्तम संविधान की छाया हमारे सिर पर है। अंग्रेजों के अधिकार हमारे अधिकार हैं और उनकी सुविधाएं हमारी सुविधाएं हैं उनका संविधान हमारा संविधान है।" (रजनीपाम दत्त इण्डिया टुडे, 1970, पृ० 322) और 1902 में अपने अध्यक्षीय भाषण में इस महानुभाव ने ब्रिटिश सरकार की जमकर कचरोरी की थी—

"हमारी इससे ज्यादा आकांक्षा नहीं कि हमें स्वायत्त शासित राज्यों के महान संघ में शामिल किया जाए जिसकी पवित्र माता इंग्लैंड है। हम पहले से ही काफी वफादार हैं, और ब्रिटेन के साथ हमारा काफी गहरा सम्बन्ध है। लेकिन हम ब्रिटिश राज के स्थायित्व के लिए ब्रिटिश साम्राज्य के महान संघ में स्थाई रूप से शामिल किए जाने के लिए चिंतित और उत्सुक है।" (अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 154 पर उद्धृत)

लेकिन इससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी सरकारपरस्त मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खां थे जो तहेदिल से उनके शोषण और दमन को आदर के साथ देखते थे। यद्यपि वे कांग्रेस के विरोधी थे परन्तु उन्होंने भी भारतीय जनजीवन में अंग्रेजों से मिलने वाली सुविधाओं के पीछे कभी भी जुड़ने का प्रयास नहीं किया वे उल्टे मुसलमानों को कांग्रेस और जन-आन्दोलनों से अलग रखकर अंग्रेजों का स्वामिभक्त बनाना चाहते थे—

"बिलाशक खुद सरकार हिन्दुस्तान की जनता की तरक्की के लिए फिक्रमंद है। अगर मौजूदा हालात को ब्रिटिश हुकूमत की शुरुआत के वक्त की हालात से मिला कर देखा जाए तो वह तरक्की, जो ब्रिटिश हुकूमत ने हिन्दुस्तान की जनता को दी है, देखकर सचमुच ताज्जुब होता है। सरकार अब भी उनकी तरक्की और ज्यादा करने को उसी तरह तैयार है। वह जो कुछ तरक्की उचित समझती है दे रही है और देती रहेगी।— 1857 की बगावत ने—हिन्दुस्तान की तरक्की सौ साल पीछे धकेल दी थी। अगर बगावत न हुई होती तो हमारे फौजी मिजाज के सैकड़ों नौजवान वालंटियर होते, आर्म्स एक्ट पास न किया जाता, हममें से बहुत से फौज में कप्तान और कर्नल और जनरल होते और हमने सरकार से कहा होता—अपने यूरोपीय अफसरों और ब्रिटिश सिपाहियों को तकलीफ मत दीजिए। देखिए हम और हम अकेले सरहद से आगे बढ़ेंगे और रूसियों

को व्यावहारिक सबक देंगे कि आगे कैसे बढा जाता है और कैसे लडा जाता है।" (डॉ० मुहम्मद शान राइटिंग्स एण्ड स्पीच आफ सर सैयद अहमद खां, 1972, पृ० 104)

इस तरह सर सैयद और उनके समर्थक घोर अंग्रेज समर्थक एवं सम्प्रदायवादी थे। वे अंग्रेजों को खुश रखकर अधिक-से-अधिक सुविधाएं और लाभ लेने के लिए प्रयत्नशील थे। उनके इन्ही कारनामों के लिए उन्हें 'सर' की उपाधि बख्शी गई थी।

कांग्रेस की उदार और ब्रिटिश संसदपरस्त नीतियो के कारण उसमे से एक बहुत बड़ा वर्ग गरम दल के नाम से जिन्हे राष्ट्रवादी माना जाता है अलग हो गया। लाला लाजपत राय इस ग्रुप के अगुआ बने उन्होने स्पष्ट रूप से कहा—

"अंग्रेज भीख मांगने से जितनी घृणा करता है उससे ज्यादा किसी अन्य बात से नही। मैं समझता हूं कि भिखमंगा घृणा का ही पात्र है। अतः अंग्रेजो को यह दिखाना हमारा कर्त्तव्य है कि हम इतना समझने लगे है कि हम सब भिखारी नही हैं और हम ऐसे साम्राज्य की प्रजा हैं जिसमे लोग उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे है जो प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका अधिकार है।

इस तरह कांग्रेस के अन्दर भी देशवासियों का ऐसा ग्रुप तैयार हो गया जो अंग्रेजो को अब अधिक दिन तक बर्दाश्त नही कर सकता था। इसका केन्द्र पंजाब था यद्यपि इन पर शासन द्वारा जुर्माना, सजा आदि की गई फिर भी वे जी-हुजूरी के लिए उदारवादियो की तरह तैयार नही हुए। बाल गंगाधर तिलक का मराठी पत्र 'केसरी' और लाला लाजपत राय का अंग्रेजी दैनिक 'पंजाबी' अपने लेखों से जनता मे चेतना का संचार करने लगे।

इधर 1915 मे गांधीजी ने कांग्रेस में प्रवेश किया। इस समय प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था। अंग्रेज काफी संकट में थे। यहां के आन्दोलनकारियों ने भी उन्हे काफी तंग कर रखा था। इस समय उन्हें एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी जो कि उन्हें सहायता करे। भारत के जन-आन्दोलनों को शान्त रखे। संयोग से राजनीतिक पटल पर गांधीजी का उदय ऐसा ही हुआ। उन्होने अंग्रेजो की इस युद्ध में भरपूर सहायता की। उन्हे ओष्ठ्य सहानुभूति के आधार पर यह लालच दिया गया था कि युद्ध समाप्त होने पर उन्हे स्वराज्य मिल जाएगा। अतः उन्होने भी अपनी वफादारी अंग्रेजो के लिए प्रस्तुत की—

"बिना किसी शर्त के और पूरे हृदय से अंग्रेजी सरकार से (लड़ाई जीतने में) सहयोग करना हमें जितना शीघ्र अपने लक्ष्य के समीप पहुंचा देगा उतना अन्य कोई उपाय नही··· इसे मैं एक सम्माननीय महत्वाकांक्षा मानता हूं कि हम साम्राज्य के लिए लडकर अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करें···साम्राज्य की सहायता न करना राष्ट्रीय आत्महत्या के समान है।" (इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० 146-147)

परन्तु 19.8 मे युद्ध के बाद कांग्रेसियो को इस सेवा के बदले मे करोड़ो का कर्ज और जलियावाला बाग का हत्याकाड मिला जिसने समूचे विश्व को दहला दिया। विश्व युद्ध पर हुए खर्चे से अंग्रेजो की नेकनीयती साफ झलकती है—

"ब्रिटेन को दी गई इन भेंटों और फौज पर किए गए इतने अधिक खर्चे का नतीजा

यह हुआ कि हिन्दुस्तान पर कर्ज ड्योढ़े से ज्यादा हो गया और 1923 तक लगभग दूना हो गया। इण्डियन लेजिस्लेटिव असेम्बली (केन्द्रीय विधान सभा) में वित्त मंत्री सर बेसिल ब्लैकेट के वक्तव्य के अनुसार यह कर्ज जो 31 मार्च, 1914 को 411 करोड़ रुपये था, बढ़कर 31 मार्च, 1923 को 781 करोड़ रुपये हो गया।" (अयोध्यासिंह : वही, पृ० 365 पर उद्धृत)

यह था साम्राज्यवादियों का तोहफा जोकि वफादारी के रूप में गांधी और उनके अनुयायियों को मिला था। अतः कांग्रेस अभी तक देश को सही रास्ते पर ले जाने में पूरी तरह असफल रही वह सदैव अंग्रेजों के इशारे पर नाचने वाली संस्था ही बनकर काम कर रही थी। यह सब असफल नेतृत्व का फल ही था—

"जब सारी दुनिया में क्रांति की लहर फैली हुई थी और पराधीन देशों की जनता आगे बढ़कर साम्राज्य लुटेरों पर वार कर रही थी, भारतीय जनता भी राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्ति का रास्ता अपना रही थी। उसे एक क्रान्तिकारी नेतृत्व की आवश्यकता थी उसे लेनिन जैसे एक क्रान्तिकारी नेता की जरूरत थी। गांधी समेत कांग्रेस के नेता ऐसा नेतृत्व देने में बुरी तरह असफल रहे। अपने व्यवहार से उन्होंने दिखा दिया कि वे क्रान्तिकारी नहीं महज सुधारवादी हैं।" (वही, पृ० 415)

अतः कांग्रेस प्रारंभ से लेकर अन्त तक समझौतापरस्त, नेतृत्व में ढुलमुलपन और अवसरवादी चालों के कारण देश में कोई सम्मानजनक कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं कर रही थी। इसकी ही प्रतिक्रिया स्वरूप देश में सशस्त्र क्रान्तिकारी उभर कर सामने आने लगे। दूसरी ओर 'किसान सभा' और 'मजदूर यूनियनें' अपने-अपने क्षेत्रों में अंग्रेजों के विरुद्ध और दलाल पूंजीपति और जमींदार के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। क्योंकि कांग्रेस में प्रतिनिधित्व सुविधाभोगी उच्चवर्ग का ही था। इसलिए स्वार्थों की लपेट में 1935 तक आते-आते कांग्रेस पूरी तरह जमींदारों और पूंजीपतियों के कब्जे में आ गई थी। अतः यह वर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आन्दोलन को सदैव अपने ढंग से चला रहा था। इससे उसके दो कार्य पूरे होते थे। एक तो स्वयं उसकी सामाजिक स्थिति तो सुदृढ़ थी ही दूसरे राजनीतिक मंच पर वह इसलिए आना चाहता था कि स्वतंत्रता के बाद भी उसका बड़ा शेयर उसे मिले जिससे उसकी शान और संपत्ति हर स्थिति में सुरक्षित बनी रहे।

परन्तु सशस्त्र क्रान्तिकारियों ने बलिदान किया, फांसी दी, कालापानी सहा परन्तु स्वार्थान्ध होकर वे राष्ट्रीय मंच पर नहीं आए। सच्चे माइने में स्वतंत्रता प्राप्ति में उनके बलिदानों का महत्वपूर्ण योगदान था। उनका उद्देश्य था कि भारत सम्मान के साथ स्वतंत्र हो परन्तु उन तमाम सुविधाभोगियों ने उनके इस सपने पर पानी फेर दिया और भारत को लम्बे जनसंघर्षों और जनान्दोलनों के बाद 1947 में 15 अगस्त के दिन भारत और पाकिस्तान के विभाजन के समझौता के आधार पर स्वतंत्रता मिली। परन्तु यह स्वतंत्रता दूसरे ही प्रकार से अर्जित की गई। और देश को आजादी मिलने के तुरन्त बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह वक्तव्य दिया—

"आधी रात की इस घड़ी में जब दुनिया सो रही है, भारत जगकर जीवन और स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। एक क्षण ऐसा आता है, जो इतिहास में बहुत ही कम आता है जब

हम पुराने युग मे नये युग मे कदम रखते हैं जब एक युग खत्म होता और तब एक राष्ट्र की अरसे से दबी आत्मा बोल उठती है। यह बहुत ही अच्छी बात है कि इस पवित्र क्षण में हम भारत और उसकी जनता की सेवा और उसमे भी बढकर मानवता की सेवा करने की सौगन्ध लेते हैं।" (आर० सी० मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया, भा० 3, पृ० 818)

इस तरह भारत आजाद हुआ। इस मिली हुई आजादी और उसके हिस्सेदारों पर अयोध्यासिंह की टिप्पणी सारगर्भित है—

"इस तरह भारत की क्रांति का एक अध्याय अर्थात् साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश के सब वर्गों के संयुक्त मोर्चे का अध्याय समाप्त हो गया, बुर्जुआ वर्ग ने सत्तारुढ होकर भारतीय क्रांति को आगे बढाने की जगह उसकी पीठ मे छुरी भौंकने का रास्ता अपनाया '''यह रास्ता अपनाकर बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवादी पूजी की रक्षा और उसके साथ साझेदारी का सामंत-जमीदार वर्ग के साथ समझौता और उससे राजसत्ता मे छोटा हिस्सेदार बनाने का रास्ता अपनाया। उसने राजसत्ता के तन्त्र का इस्तेमाल मजदूरो, किसानों, मध्यवर्ग आदि की शक्तियों को ध्वस्त करने मे किया।" (भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 786)

इस तरह लंबी परपरा और संघर्षों के परिणाम स्वरूप आजादी प्राप्त हुई। और भारतीय जनता को उससे आशा बधी कि यह उसकी सरकार है, उसके देश और देशवासियों की सरकार है। अब दमन और अत्याचार का अध्याय समाप्त होकर शान्ति और प्रगति का श्रीगणेश वह और उसके सहयोगी करेंगे। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश और देश के अन्य प्रदेशों मे सबसे बड़ी पार्टी के नाम पर कई सरकारे सत्ता मे रही है। लेकिन आज तक यह स्वतंत्रता 38 वर्ष बीत जाने के बावजूद भी देश को न तो कोई व्यवस्थित कार्यक्रम दे सकी है और न उसकी प्रगति के लिए कोई ठोस कदम ही उठा सकी है। चुनाव और जनतन्त्र के नाम पर हर पांचवे वर्ष बडे जोर-शोर का हल्ला होता है। गाधी-नेहरू के नाम अपने काले कारनामे छिपाने के लिए खूब उछाले जाते है परन्तु चुनाव के जीत जाने के बाद वातानुकूलित कमरों में जाकर उन्हे गहरी नीद आने लगती है वायदे और कार्यक्रम एवं विकास की बातें उन्हे सपने में भी याद नही आती।

बड़े-बड़े पूजीपति और जमीदार एव सामत राष्ट्रीय दलों से अपना रिश्ता जोडे हुए हैं। प्रत्येक मत्री उनके साथ बैठता है अथवा उन्ही का रिश्तेदार अथवा परिवार का सदस्य होता है। उसी की छत्रछाया मे ब्लैक मार्केट और तस्करी का धन्धा खूब जम रहा है। 1950 से अब तक के राजनीतिक फलक पर पार्टियो का इन्ही कमजोरियो और सत्तापरस्ती के कारण कई बार विभाजन हो चुका है। व्यक्तिगत स्वार्थों के टकराव ने देश मे अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी है। सुधारो के नाम पर मत्री और सांसद, विधायक मात्र अपने परिवार का भला करते हैं। ऊंची-ऊची नौकरियो और लाभ के पदों पर योग्य और अयोग्य का ध्यान न रखकर रिश्तेदारी और जातिवाद का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता है। सरकार की ओर से मिलने वाली अकूत धनराशि केवल कागजो पर ही खर्च की जाती है और फर्जी विकास दिखाकर उद्घाटन और समापन के नाटक

पूरे किये जा रहे हैं। किसानों और मजदूरों को सरकारी तौर पर मिलने वाली कृषि सहायता को बड़ा भूस्वामी हड़पकर अपने उद्योगों और लाभ के कामों में ले रहा है। कृषि विकास के नाम पर वी० डी० ओ०, ए० डी० ओ० जैसे ब्लॉक स्तर के अधिकारी क्षेत्रीय राजनीति के शिकंजे में फंसकर नेतागीरी करने लगते हैं। यदि वे ऐसा नही करेंगे तो शासक दल उन्हे स्थानातरित अथवा रिपोर्ट कर उनकी पदोन्नति में रुकावट डाल देगा।

हरिजनों की रहनुमाई करने वाली सरकार आज भी उनके आरक्षित पदों को पूरा नही कर पाई है। किसी-किसी विभाग में तो उनकी सख्या नही के बराबर है। गाव और कस्बों मे वे आज भी द्वितीय श्रेणी के नागरिक की तरह जीवन जी रहे हैं। युवा सगठनो ने समाज मे शासन से मिलकर बहुत ही लज्जाजनक स्थिति पैदा की है। शासन की छाया मे ये उससे या उससे सम्बन्धित सगठन के पदस्थ होने के नाते सफेद कुर्ता-पाजामा मे हर समय आखो पर चश्मा लगाये अनैतिक कार्यों में सलग्न है। अत. आजादी के बाद भी सही नेतृत्व न होने के कारण देश को वस्तुनिष्ठ प्रशासन अभी तक नही मिला है। अशिक्षित जनता उसे गाधी, नेहरू के बहाव में अक्सर चुन तो देती है परन्तु उसके दु.ख-दर्द की चिंता कभी भी शासक दल को नही रही है। 'बहुत-सी समस्याएं हैं' इस तरह की घिसी-पिटी बातों से मात्र जनता का मन-बहलाव किया जाता है। उसकी मूलभूत कठिनाई को जानते हुए भी अनदेखा ही किया जाता है।

सुधारवादी सामाजिक आंदोलन

भारत में सामाजिक स्तर की बड़ी पेचीदी भूमिका रही है। काम के आधार पर बाटा गया मानव-समुदाय धीरे-धीरे जाति मे परिवर्तित होकर समाज मे रूढि-ग्रस्त होता गया और उसने एक नयी व्यवस्था का पोषण किया। इस नयी व्यवस्था के अन्तर्गत छूत-अछूत, अवर्ण-सवर्ण, स्वामी-सेवक जैसे अनुभाग सामाजिक सरचना के अग बनते चले गए। इस व्यवस्था का समाज के अन्दर बहुत बुरा असर पड़ा। सभी बातों में सवर्ण और अवर्ण का भेद इतना गहराता गया कि निम्न वर्गो की अस्मिता केवल सवर्णों के इशारे पर जीवित रहने लगी। निम्न वर्ग के लोगों को समाज की उन तमाम सुख-सुविधाओं से वंचित किया गया जिन्हे उच्च वर्ग के लोग अपने दैनिक जीवन में प्रयोग मे लाते थे। यहां तक कि उनके रहने तक के लिए सभ्य समाज से दूर गाव के किसी एक कोने पर या बस्ती से दूर उन्हें बसाया जाने लगा था। यद्यपि इन निम्न वर्गो की दशा सुधारने मे समय-समय पर कुछ समाज-सुधारको, सतों और लोक-नायको ने प्रयत्न किए परन्तु वे सब सतही तौर पर थे। कोई ठोस कार्यक्रम न होने के कारण यह सब क्षेत्रीय और वैयक्तिक स्तर तक ही सीमित रह गया। डॉ० अम्बेडकर ने उच्चवर्ग और निम्न-वर्ग के वैषम्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—

"हिन्दुस्तान देश माने केवल विषमता का आश्रय स्थान है। हिन्दू समाज उसकी एक मीनार है और एक-एक जाति उसकी एक-एक मंजिल है। लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि इस मीनार में सीढ़ी नहीं लगी है। एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए उसमें मार्ग नहीं रखा गया है। इस मंजिल में जो जन्मे, उसी मंजिल में वह मरे। नीचे की मंजिल में जन्मा व्यक्ति चाहे वह कितना भी लायक क्यों न हो, उसे ऊपर वाली मंजिल में प्रवेश नहीं और ऊपर की मंजिल में जन्मा व्यक्ति चाहे कितना भी नालायक क्यों न हो, उसे नीचे की मंजिल पर ढकेलने का साहस भी किसी में नहीं।" (धनंजय कीर . विश्वभूषण डॉ० बाबासाहेब अम्बेडकर, 19:0, पृ० 21)

परन्तु आधुनिक युग में विशेष रूप में 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से छूत-अछूत, नारी शिक्षा, मूर्तिपूजा, विधवा, दहेज, अनमेल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, सती प्रथा आदि के बारे में बड़े व्यापक रूप में बुद्धिजीवियों और चिंतकों का इस ओर ध्यान गया। सामाजिक कुरीतियों पर आधुनिक काल में संगठनात्मक रूप में चोट की गई और सुधारवादी आन्दोलन समाज को एक नई दिशा देने के लिए बड़ी तेजी से चलने लगे—

"भारत में मध्ययुगीन कार्य के विरोध में धर्म-सुधार आदोलन का जन्म हुआ, क्योंकि मध्ययुगीन धर्म जाति जैसी संस्थाओं का पोषण करते थे, जो देश में नए अर्थ-तंत्र के विकास और भारतीय जनता की राष्ट्रीय एकता के रास्ते में जबर्दस्त रुकावटें पैदा करती थी। बहुदेववाद आत्मा का हनन करने वाले निरर्थक धार्मिक कर्मकाण्ड, धार्मिक रूढ़ियों आदि के विरुद्ध भी संघर्ष हुए, क्योंकि ये जनता की आलोचनात्मक बौद्धिक शक्ति को कमजोर करती थी। यह धर्म-सुधार आन्दोलन तथ्यतः राष्ट्रीय थे, लेकिन रूपतः धार्मिक।" (ए० आर० देसाई : भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 229)

इस तरह पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं का सुधार संगठन के रूप में किया जाने का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। अछूत जो सदियों से अस्पृश्य माना जाता रहा उसे बराबरी का हक और उठना-बैठना देने के लिए जगह-जगह से बुद्धिजीवियों और समाज-सुधारकों ने सामूहिक प्रयास किए और स्वयं को समर्पित कर समाज में परोपकार की भावना की नींव डाली। नारी जिसे मात्र घर की चहारदीवारी में कैद करके उसके सामाजिक जीवन का शोषण जो युगों-युगों से चलता आ रहा था आधुनिक काल में अब उसके ऊपर प्रश्नचिह्न लगने लगा। आधुनिक शिक्षा के माध्यम से उसे स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता मिली। विधवा जो कि समाज में जीवित लाश की तरह अपना अस्तित्व रखती थी नारी जीवन की सबसे अधिक और सबसे बड़ी विसंगति थी। नारी की इच्छा और सलाह की परवाह किए बिना आदर्श और नैतिकता के नाम पर पुरुष-वर्ग ने उसके शरीर से खिलवाड़ करने के लिए अनमेल वर से विवाह की योजना के अनुसार उसका खूब शोषण किया। परन्तु आज स्थिति बदली है। आधुनिक शिक्षा और जीविका के साधनों ने उसे सामाजिक सम्मान देकर पुरुष के बराबर ला खड़ा किया है। सुधारवादी आन्दोलनों से उसे अपने संगठन का एक आधार मिला है। इन समाज-सुधार आंदोलनों

में 'ब्रह्म समाज', 'आर्य समाज', 'प्रार्थना समाज', 'रामकृष्ण मिशन', 'अलीगढ़ आन्दोलन' आदि की प्रमुख भूमिका रही है।

ब्रह्म-समाज

आधुनिक भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला पहला सुधारवादी आंदोलन ब्रह्म-समाज था जिसे आधुनिक राष्ट्रवाद के जनक राजा राममोहन राय ने सन् 1828 में प्रारंभ किया। यद्यपि राजा राममोहन राय का दृष्टिकोण बहुत उदार था। वे इस्लाम के सिद्धान्तों, सूफियों के रहस्यवाद, ईसाई धर्म की नैतिक शिक्षा आदि में बहुत विश्वास करते थे। वे धर्म के मामले में तर्क को प्रधानता देते थे। उन्होंने बुद्धिवादी दृष्टिकोण से कार्य की व्याख्या प्रस्तुत की। वे सदैव अनावश्यक व्यक्ति अथवा वस्तुओं को सामान्य से विशेष बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका सदैव यह विचार बना रहा कि व्यक्ति को स्वयं बिना किसी दिखावे और पुरोहित के माध्यम के बिना स्वयं धर्मशास्त्रों का पाठ करना चाहिए और किसी सिद्धान्त को अन्धानुकरण न कर उसकी तर्क-संगत पुष्टि अनिवार्य है। जो तर्क के माध्यम से खण्डित हो अथवा उसमें किसी भी प्रकार का सार न हो उसे निःसंकोच छोड़ देना चाहिए। क्योंकि सदैव से हिन्दू समाज पर हिन्दू धर्म की रूढ़िवादी और अंधविश्वासी परम्पराओं का नियंत्रण था। अतः उन्होंने धर्म-सुधार के साथ-साथ समाज-सुधार को भी अपने सुधारवादी उद्देश्यों में शामिल कर लिया।

ब्रह्म-समाज ने सबसे पहली चोट भारत के दकियानूसी समाज की जाति-व्यवस्था पर की। उन्होंने जाति-व्यवस्था का घोर विरोध किया और उसे राष्ट्र-विरोधी अमानुषिक घोषित करते हुए एक सशक्त आंदोलन की शुरुआत की। ब्रह्म-समाज ने 'सती प्रथा' और 'बाल विवाह' के विरुद्ध संघर्ष किया और विधवाओं के पुनर्विवाह और स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का समर्थन किया। यह सुधारवादी आन्दोलन आधुनिक शिक्षा का प्रबल समर्थक था। इसने पहली बार नारी स्वतन्त्रता की आवाज उठाई और उसे स्वावलंबी बनाने के लिए आधुनिक शिक्षा को अनिवार्य किया। ब्रह्म समाज केवल धर्म की वीथियों में ही नहीं घुमड़ता रहा उसकी राष्ट्रीय कार्यों पर भी गहरी नजर थी सरकार के दमन के खिलाफ उसने जनमत तैयार किया—

"ब्रह्म-समाज राष्ट्रवादी आन्दोलन का अग्रणी था। राष्ट्रीय आन्दोलन जो सुधार आन्दोलन के तौर पर शुरू हुआ और जिसका उद्देश्य था सत्तावादी कार्य के विशद बोझ से व्यक्ति को मुक्त करना, सत्तावादी धर्म जो व्यक्ति की पहल शक्ति का गला घोंट देता था और व्यक्ति एवं जनमानस को जड़वत बना देता था। ब्रह्म-समाज ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य, राष्ट्रीय ऐक्य और सहकर्मण एवं सामाजिक संस्थाओं और सम्बन्धों के प्रजातंत्रीकरण के सिद्धान्तों को घोषित कर भारतीय जनता के लिए नए युग का सृजन किया। भारतीय जनता के राष्ट्रीय जागरण की यह पहली संगठित अभिव्यक्ति थी।" (वही, पृ० 231)

यह आंदोलन बंगाल, बिहार और उड़ीसा में बड़े जोरों से चला और समाज में बड़े

क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रकाश में आए। जनता इस आन्दोलन के प्रति बहुत आकर्षित हुई।

प्रार्थना-समाज

1867 में केशवचंद्र सेन, गोविन्द रानाडे, रामकृष्ण भण्डारकर आदि ने बम्बई (महाराष्ट्र) में प्रार्थना-समाज की स्थापना की। दक्षिण भारत में इस सामाजिक आंदोलन ने काफी उल्लेखनीय कार्य किया। यद्यपि इस समाज के जाति-पाँति तोड़ने, अछूतों की दशा सुधारने, स्त्रियों को सम्मान और समता का दर्जा देने, विधवा विवाह कराने, अनाथालय खोलने, विधवाश्रम चलाने आदि प्रमुख कार्यक्रम ब्रह्म-समाज से काफी मिलते-जुलते थे फिर भी जस्टिस एम० जी० रानाडे आदि ने अपने वैयक्तिक प्रयासों से समाज में एक चेतना लाने का क्रांतिकारी कार्य किया। प्रार्थना-समाज ने समाजोत्थान के लिए दक्षिण भारत में विशिष्ट भूमिका निभाई।

आर्य-समाज

1875 में दयानन्द सरस्वती ने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वासों का बहुत ही प्रभावशाली ढंग से विरोध किया। यह आन्दोलन ब्रह्म-समाज एवं प्रार्थना-समाज से दूसरे ही तरह का था। इस आन्दोलन ने अतीत की सांस्कृतिक विरासत के माध्यम से वर्तमान की व्याख्या प्रस्तुत की। आधुनिक पतन का कारण उन्होंने 'वेद' के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की अवहेलना माना है।

यह समाज जाति-व्यवस्था को जन्म से मानने का घोर विरोधी रहा है। यह 'वेदों' द्वारा शुद्धिकरण के सिद्धान्त पर बल देता है। 'आर्य-समाज' सामाजिक और शैक्षिक मामलों में स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का समर्थक रहा है। उन्होंने स्त्री को देवी और सहधर्मिणी के स्वरूप में मानकर उसकी शोषित प्रकृति से मुक्ति का जिहाद छेड़ा।

'आर्य-समाज ने विदेशी शासन का जमकर विरोध किया। उससे संघर्ष करने के लिए उन्होंने जनता में आन्दोलनात्मक रुख अपनाया—

"इसने लोगों में शिक्षा का प्रसार किया। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग आदि के विभेदों के बावजूद मानव मात्र की एकता के सिद्धान्त का उद्घोष किया। गुलाम देश की प्रजा होने के नाते उनमें अनिवार्यतः जो हीन भावना घर कर गई थी, उसे समाप्त करने की भी 'आर्य-समाज' ने काफी कोशिश की थी।...एक जमाने में तो 'आर्य-समाज' सरकार दमन नीति का मुख्य लक्ष्य था। इसमें शायद ही कोई आश्चर्य की बात है कि जब 1907 में बाद की उथल-पुथल की जाँच करने 'लन्दन टाइम्स' की ओर से सर वेलेटा इन शिरिल भारत आया तो उसने आर्य-समाज को इंग्लैंड और राज्य सत्ता के लिए बहुत ही खतरनाक बतलाया।" (वही, पृ० 233)

'आर्य-समाज' के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रामाणिक संस्करण 1883 में प्रकाशित हुआ। 'आर्य-समाज' की राष्ट्रवादी भूमिका प्रारंभ से रही है। यह आर्य-संस्कृति के सिवाय दूसरी संस्कृति को स्वीकार करने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार नहीं था। दयानन्द सरस्वती ने कहा था—

"कोई कितना ही कहे, परन्तु स्वदेशीय राज्य सर्वोपरि होता है—विदेशी राज्य चाहे जितना अच्छा हो लेकिन वह सुखदाय नहीं हो सकता।" (इन्द्र विद्यावाचस्पति : भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० 23)

आर्य-समाज की विचारधारा पर बहुत से गुरुकुल एवं स्कूल और कालिजों की स्थापना हुई। स्त्री-शिक्षा के लिए कन्या गुरुकुल आदि खुले। इस आन्दोलन का प्रचार उत्तरी भारत में बड़े जोरों से किया गया और यह बहुत ही लोकप्रिय हुआ। आज भी भजन, कीर्तन और प्रवचनों के माध्यम से ढोंग, आडम्बर आदि का इस धर्म के अनुयायी जमकर खण्डन कर रहे हैं।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु रामकृष्ण के नाम पर उनके आदर्शों और शिक्षाओं को समाज में प्रसारित करने के लिए 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना 1 96 में की। इन्होंने आत्म-चिन्तन और आत्म-विश्लेषण के माध्यम से समाज को अच्छे और बुरे मार्गों की पहचान करने का आग्रह किया। यह मिशन 'मानव' को केन्द्र में रखकर चलता था। इस धर्म का दृष्टिकोण बहुत ही उदारवादी था। विभिन्न जातियों और विभिन्न संस्कृतियों के लोगों को भी इसमें प्रवेश पाने की खुली छूट थी। आज भी इस समाज की ओर से पाठशालाएं, चिकित्सालय, पुस्तकालय, वाचनालय आदि उपयोगी संस्थाएं निर्धन और असहाय लोगों के लिए चलाई जाती हैं। अशिक्षा को दूर करना इस मिशन का परम लक्ष्य था।

थियोसॉफिकल सोसायटी

देशी सामाजिक संस्थाओं के साथ-साथ भारत में कुछ विदेशी समाज-सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए आन्दोलन चलाए। इन आन्दोलनों में थियोसॉफिकल सोसाइटी का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। थियोसॉफिकल सोसाइटी की स्थापना 1875 में अमेरिका में न्यूयार्क में हुई। इसकी स्थापना करने वाले कर्नल स्टील अलकाट और मैडम ब्लावट्स्की थी। ये दोनों 1879 में भारत में आये और उन्होंने मद्रास के निकट अड्यार को अपनी सोसाइटी का केन्द्र बनाया। 1893 में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने इस सोसाइटी में सम्मिलित होकर भारत के उत्थान के लिए अपना बहुमूल्य योग दिया।

इस आन्दोलन का भारतीय संदर्भ में यहां की जनता के लिए इसलिए महत्त्व है कि यह गैर-भारतीयों द्वारा भारतीयों की दशा सुधारने में पहला रचनात्मक कार्य करता था। इस धर्म ने हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक दर्शन और उनके पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया।

इसने जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, प्रजाति और यौन भेद आदि से ऊपर उठकर विश्व-बन्धुत्व का संदेश दिया। इस समाज की सबसे बड़ी लोकप्रियता का कारण सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करना था—किसी धर्म-विशेष के प्रति आग्रह अथवा दुराग्रह रखना इस सोसाइटी में नहीं था। समाज के नैतिक उत्थान के लिए उसकी असंगतियों को दूर करना इस मिशन का मुख्य उद्देश्य था।

इनके अलावा कुछ राजनेता भी समाज की कुरीतियों का खण्डन कर समाज को एक नए रास्ते पर ला रहे थे। विपिन चंद्र पाल, अरविंद घोष, तिलक और गांधी जैसे नेता सामाजिक असमानता के बारे में निरन्तर सोचते थे। समाज के इस वैषम्य को उन्होंने राष्ट्रव्यापी मानकर उसे राजनीतिक आन्दोलनों की रूपरेखा में शामिल किया। डॉ० अम्बेडकर ने हरिजनों के उत्थान के लिए बड़ा संघर्ष किया और उन्होंने उनकी सुरक्षा के लिए राजनीतिक प्रश्रय की जोरदार वकालत की। अछूतों को सामाजिक और राजनीतिक सम्मान के लिए उनके लिए आरक्षण का प्रावधान उन्ही के प्रयासों का सुपरिणाम है।

इस तरह इन तमाम समाज-सुधारों का असर भारतीय जनता पर पड़ रहा था। कार्य-प्रचारक जनता के निकट पहुंचकर उन्हें उनकी स्थिति से परिचित कराते थे। अतः लोक-जीवन में इन सुधारवादी आंदोलनों का व्यापक प्रभाव पड़ा। लोग इनके क्रान्तिकारी विचारों को स्वीकार कर उन्हें अमल में लाने लगे।

स्वतंत्र भारत में जमींदारी उन्मूलन और ग्रामांचल

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नेताओं ने देश के विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किए जिसमें कृषि को सर्वोच्च वरीयता दी गई थी। किसानों और मजदूरों को सामंतों और जमींदारों के शोषण से मुक्त करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ही 'जमींदारी उन्मूलन' इसी आशय के साथ किया गया। यह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषक और मजदूर की जिन्दगी को सुधार लाने का पहला शासकीय प्रयास था—

"भारतीय कृषि और भूमि व्यवस्था के पुनरुद्धार की दशा में लागत उपजीवी जमींदार और जागीरदार वर्ग के अधिकारों और आधिपत्य को किसी हद तक सीमित करा कर कृषि विकास की पूर्व स्थितियां पैदा की।" (डॉ० पूरन चंद जोशी : भारतीय ग्राम सास्थानिक परिवर्तन और आर्थिक विकास, 1966, पृ० 44)

वास्तव में किसानों को जमींदारों के चंगुल से निकालने एवं उनकी आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाने की दिशा में यह सरकार का राजनीतिक प्रयास था—

"जमींदारी उन्मूलन का एक आधार आर्थिक कारण ही नहीं राजनीतिक भी था। और वह था जमींदार और जनता के बीच सदैव से चला आया संघर्ष। उसी के परिणाम-

स्वरूप जमींदारी उन्मूलन हुआ।" (डॉ० रामविहारी सिंह तोमर: ग्रामीण समाज-शास्त्र, पृ० 413)

सदियो से चली आ रही इस परम्परा का अन्त सैद्धांतिक तौर पर हो गया परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह आज भी तनाव का कारण बना हुआ है। अंग्रेजों द्वारा पैदा किया गया यह वर्ग उनके साथ रहकर शोषण, अन्याय और बेईमानी की तमाम हरकतों से परिचित था। उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी तमाम समझ शोषण और बदनीयत को समझने मे ही लगाई थी। अतः इस वर्ग की नस-नस मे कुटिलता का खून दौड़ रहा था।

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन में इस वर्ग की बडी महत्त्वपूर्ण भूमिका महज इसीलिए थी कि वह सामाजिक सम्मान के साथ-साथ राजनीतिक सम्मान भी अर्जित करे। इसी लिए इसने क्रांतिकारी या गरमदलीय अथवा किसानो और मजदूरों के किसी भी संगठन का सहयोग नही किया था। उसने सहयोग किया था कांग्रेस का। पूरे जोर से जेल जाने, मार खाने, सजा भुगतने, नजरबन्द रहने के विदेशी जुल्म उसने महज इसलिए सहन किए थे कि स्वतन्त्रता के बाद भी राजनीतिक स्थिति में वह साझीदार होगा। उसके वर्गीय स्वार्थों का हित साधन होगा। और यही नही वह शिक्षित होने के बलबूते पर शासकीय हस्तक्षेप भी करेगा। और वास्तव मे हुआ भी यही। उसने आजादी के बाद अपने और अपने वर्ग का ही भला किया। आज जनता के दुख-दर्द की आवाज उसने कभी नही सुनी।

'जमींदारी उन्मूलन' यद्यपि उनके हाथ से जाता हुआ स्वामित्व था फिर भी उन्होंने उसमे तीन-पांच लगाकर चल-अचल संपत्ति के नाम पर बाग-बगीचे, तालाब, चरागाह आदि की आड मे हजारो एकड की जमीन अपने बालिग-नाबालिग परिवारी सदस्यो के नाम लिखाकर उसकी तो सुरक्षा की ही साथ मे सरकार की ओर से मुआवजे के लिए कानून पास करा लिये।

इस शासकीय संरक्षण एवं अपने अधिकार के माध्यम से उसने पुनः देहात मे अपने दरबार कायम किए है। खेती को उद्योग के रूप मे इस्तेमाल कर उत्पादन के साधनो पर फिर से कब्जा करके उसने बडे भूस्वामी और पूंजीपति की मिली-जुली भूमिका का प्रदर्शन किया है। डेनियल थर्नर ने इस सत्य को अपनी पुस्तक मे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"बिहार मे जमींदारी उन्मूलन के बाद भी पाच सौ या सात सौ ही नही एक हजार एकड की जमींदारियां साधारणतः हैं। इस रूप मे अरब में भी जमींदारों के पास काफी जमीन है।" (एग्रारियन प्रास्पेक्ट इन इण्डिया, 1956, पृ० 34)

जमींदारी उन्मूलन ने भारत के गावो मे एक अजूबा वातावरण पैदा कर दिया। यह व्यवस्था हुई तो आम जनता को सहूलियत देने के लिए थी लेकिन इसका दुष्परिणाम ही सामने आया। सरकार में उन्ही जमींदारो के नाते-रिश्तेदार थे, सरकारी कार्यालयों और ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर इन्ही के संबंधी थे। अतः कानून के छोटे से छेद से हाथी निकालने की बात इन्ही लोगो ने सिद्ध कर दिखाई।

जमींदारी उन्मूलन सबसे पहले बिहार प्रांत की सरकार ने 1950 से लागू कर दिया था और विशेष बिल के माध्यम से जमींदारों को कुल आय की उसे लेकर 20 गुनी रकम तक उन्हें मुआ वर्ग के रूप में देने का वचन भी सरकार ने अपने इन छुटभइयों को दिया। उत्तर प्रदेश सरकार ने जमींदारी प्रथा समाप्त करने के लिए व्यापक कदम उठाए। परन्तु धानाढ्य जमींदारों ने कानूनी शरण लेकर काफी दिनों तक न्यायालयों में पैसे के बल पर अपीलें ठोंकते रहे और जानबूझकर आनाकानी करते हुए बगैर समय शोषण और जमीन बेचने की प्रक्रिया शुरू कर दी। चुपके से जमीन कम कीमत में बेचकर वे राम बटोरते रहे। 'जो लगे सो हाथ' वाला सिद्धान्त अन्त में काम आ रहा था। परन्तु न्यायालय से अपीलें खारिज होती गईं और उनकी अमलदारी उठती गई। परन्तु ये चोरी-छिपे आज भी नाम बदल-बदल कर बड़ी काश्त वाले किसान बने हुए हैं—

"उत्तर प्रदेश में 58 प्रतिशत भूमिधर पुराने जमींदार हैं।" (बलजीत सिंह, नेक्स्ट स्टेप इन विलेज इण्डिया, पृ० 75)

मध्य प्रदेश में इजारेदारी, राजस्थान में जागीरदारी और बिसेदारी जैसी भूमि-व्यवस्था संबंधी प्रथाएं किसानों से लगान वसूलने के लिए थी। स्वतन्त्रता के प्रथम आलोक में उन्हें भी समाप्त कर दिया गया और वहां भी उत्तर प्रदेश जैसे भूमिधर किसानों की तरह खानेदार किसान खेतों के सच्चे मालिक बने। इस तरह जम्मू और कश्मीर प्रान्त को छोड़कर सभी राज्यों में यह प्रथा उठा ली गई। जम्मू कश्मीर में बटाईदारी प्रथा थी और ये बटाईदार आजादी में गिरगिट की तरह रंग बदलकर भारत अधिकृत कश्मीर में दल विशेष से जुड़ गए और सत्ता का भरपूर प्रयोग करते हुए उन्होंने अपनी इस परम्परावादी व्यवस्था को बनाए रखा और आज भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान वाली राजनीति पर उनकी धुन में बंसी बज रही है। इस व्यवस्था को देखते हुए बलजीतसिंह ने स्पष्ट कहा था—

"भूमि सुधारों से स्पष्टतः कृषि व्यवस्था में कोई संस्थागत परिवर्तन नहीं हुआ।" (वही, पृ० 75)

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि जमींदार सैकड़ों वर्षों से बिना ताज के बादशाह थे। उन्होंने अपनी जमींदारी के अमल में किसानों का जमकर शोषण किया था। वे आसानी से अपनी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ सकते थे। अधिकार और हुकूमत की लालसा मरते दम तक साथ थी। अतः पहले तो उन्होंने जमींदारी प्रथा उठने की भनक सुनते ही फाजिल जमीन बेचकर काफी सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। दूसरे उनके मुआवजे के रूप में मिलने वाली राशि से उनने खेती का औद्योगीकरण प्रारंभ कर दिया जिससे उनके यहां प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से लक्ष्मी बनवास बन गया।

जमींदारी उन्मूलन से अच्छाई कम बुराई ज्यादा सामने आई है क्योंकि जमींदार ने फाजिल जमीन को खाते-पीते नवधनाढ्य को बेचा था। और शक्ति और पुराने रोबदाब से किसान को डरा धमकाकर उसने उससे जमीन की बेदखली ले ली थी। इसलिए इसने गाव में एक नए 'बड़े भूस्वामी' को पैदा किया जो कि देहाती जीवन में सबसे अधिक

घातक सिद्ध हो रहा है।

"देहात में एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ है जिसका चरित्र कई दृष्टियों से नया है। इस नए उभरे हुए वर्ग में भूस्वामियों और पूंजीपति दोनों के सम्मिलित गुण दृष्टिगोचर होते हैं। जिसमें पुराने जमींदार की कुटिलता और पूंजीपति वर्ग की चतुराई और निर्ममता का सम्मिश्रण है।" (डॉ० कुंवरपालसिंह : हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना, पृ० 155)

अतः देहात में अब इस आगे-पीछे की दौड़ में तनाव की स्थिति बन गई है। बड़े किसानों और मजदूरों में सीधा संघर्ष एक नए अलगाव की मानसिकता को बनाता जा रहा है। 'मैं और मेरा' के बीच गांव का दायरा अब सिमटकर 'चौपाल' के रूप में रह गया है। मजदूर दिन-पर-दिन महंगाई और कर्ज में डूब रहा है। दूसरे बड़ा भू-स्वामी और जमींदार शिक्षित और धनवान होने के कारण शासन द्वारा प्रदत्त कृषि-सुधार के नाम पर तमाम सुविधाएं, छूट और रियायतें लेकर दिन-पर-दिन सम्पन्न होता जा रहा है।

सरकार ने खेती की दशा सुधारने के लिए राज्य, जिला और ब्लाक स्तर के कार्यों को लागू किया। 'हरित-क्रान्ति' 'सघन कृषि' जैसे कार्यक्रम खेती की हालत को सुधारने के लिए ही अपनाए गए हैं। चकबन्दी उन्हीं में से एक कार्यक्रम है। चकबन्दी को लागू करने का उद्देश्य किसान के बिखरे हुए खेतों को एक जगह करना, उत्पादक और अनुत्पादक जमीन को अलग-अलग मेड़बन्दी में विभाजित करना था। यह किसानों के लिए बड़ा लाभकर कार्यक्रम था क्योंकि इससे किसान का श्रम और समय की बचत होती थी दूसरे वह खेती-बाड़ी को बिखरे हुए खेत होने के कारण देखभाल भी नहीं कर पाता था। दूसरे वह खेती के बिखराव के कारण ही सिंचाई आदि के साधनों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता था। इन्हीं सब कारणों को ध्यान में रखकर इस कार्यक्रम को प्रत्येक प्रान्त में लागू किया गया। परन्तु यह कार्यक्रम ग्राम-प्रधानों, पटवारियों और सी० ओ० आदि के भ्रष्ट आचरणों और लालची वृत्ति के कारण सफल नहीं हो पा रहा है। रिश्वत लेकर भले-बुरे चक काटना, अच्छी जमीन को बड़े किसानों और खराब जमीन को गरीबों को देना, घूस लेकर 'जमीन की मालियत' के नाम पर किसानों को ठगना आदि भ्रष्ट चाल-चलन के कारण यह कृषि-विकास कार्य उपयोगी होते हुए भी नहीं चल पा रहा है। इस कार्यक्रम में सरकार का ढुलमुल रवैया, सरकारी अफसरों की रिश्वती भूमिका ने अशिक्षित किसानों का खूब शोषण किया। यद्यपि कृषि-विकास योजनाओं के अन्तर्गत सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में हरित-क्रान्ति, सहकारी खेती, आदि कार्यक्रम लागू किए हैं परन्तु उनका लाभ किसानों को भरपूर नहीं मिला। हरित-क्रान्ति के अन्तर्गत नए-नए संकर-बीजों के प्रयोग, रासायनिक खाद और सिंचाई के साधनों में विद्युत नल-कूपों की व्यवस्था से देश की खाद्य समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। उन्नतशील बीज, उन्नतशील कृषि-यन्त्र, ट्रैक्टर, मेस्टन हल, थ्रेशर आदि के माध्यम से श्रम और समय की बचत करके अधिक पैदावार लेने की योजना रही है। सहकारी खेती के लिए को-ऑपरेटिव सोसाइटी और को-ऑपरेटिव सीड स्टोर जैसे सहकारी प्रावधान सरकार की ओर से थे जिनमें आपस में मिल-जुलकर सहयोग से खेती करना था।

परन्तु यह सब कार्यक्रम मात्र दिखाने के रहे क्योंकि इनके पीछे कड़ा सरकारी संरक्षण नही था। इन सब कार्यक्रमों से एक पूंजीवादी व्यवस्था को ही बढ़ावा मिला है। परतन्त्र भारत में गरीब किसान का शोषण गिने-चुने लोग करते थे परन्तु आजाद भारत मे उसे सुबह घर की दहलीज से निकलकर शाम को लौटने के वक्त तक न जाने कितने समझौते, कितनी गिड़गिड़ाहट और कितने भले-बुरे शब्द सुनने पड़ते हैं इसे स्वयं वह गरीब भी अपनी गरीबी के कारण सहता-सुनता अनदेखी करता है। वही कभी कर्ज से मुक्ति के लिए गांव से शहर और कल-कारखानो मे आकर शरण लेता है और वापस लौटकर जब वह तीज-त्योहारों पर घर जाता है, तो फिर वही महाजन सूदखोर और बड़ा भूस्वामी घेरकर बैठा रहता है। उससे आज फिर कर्ज में बेगार लेने की प्रवृत्ति पनपती जा रही है।

इस तरह नागार्जुन ने इस समूचे राष्ट्रीयफलक को अपने उपन्यासों की कथा-वस्तु मे लिया है। अंग्रेजी शासन, जमीदारी व्यवस्था, गरीब किसान और मजदूर का शोषण आजादी के बाद बदलते हुए भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वरूप को कथा मे संजोकर पाठक को अपने आंचलिक परिवेश से जुड़ने का कारण स्पष्ट किया है जिसे अगले शीर्षक में स्पष्ट किया गया है—

नागार्जुन की सोद्देश्य आंचलिक संपृक्तता

औद्योगिक क्रान्ति के बाद भारत के कृषि और कुटीर उद्योग-धन्धों के विनाश से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शोषण की नीति से भारतीय ग्रामीण जीवन पर गहरा आघात लगा। इसी की प्रतिक्रिया मे देहाती समुदाय ने स्वतन्त्रता की लड़ाई में बलिदानी भूमिका निभाई थी। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उसके सारे सपने बिखर गए। उससे विदेशों की गुलामी तो टूटी परन्तु देश वालों ने उसे फिर से गुलाम बनाना शुरू कर दिया। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार उसके लिए सफेद हाथी की तरह साबित हुए। पंचवर्षीय योजनाओं से मिलने वाले तमाम लाभ उसके क्षेत्र के बड़े-बड़े बाबू भाई भी लेते रहे हैं। जमीदारी तो टूट गई परन्तु हक की जमीन उस किसान को नहीं मिली जो वर्षों से गुलाम की तरह खून-पसीना एक करता हुआ दिन-रात की परवाह किये बिना मेहनत में लगा रहा। क्षेत्रीय एम० एल० ए० और एम० पी० उसके वर्ग की समस्याएं विधान भवन तथा संसद में न रखकर उन सेठो और पूंजीपतियों का भला करने में लग गए जिनसे उन्होंने जारों के चन्दे चुनाव के समय आपसी लेन-देन के समझौते मे लिये थे। बेचारा किसान मजदूर इस पैसे के खेल मे तमाशा बनकर रह गया। उसकी दुखदकहानी को किसी ने नही सुना।

अतः इस पूरे बड़े पैमाने पर हुए व्यापक परिवर्तन का प्रभाव ग्रामीण जीवन पर पड़ा। गाव का किसान आज फिर अपनी वैयक्तिक अस्मिता के लिए संघर्षों के रास्ते पर

आने लगा है। वह अपनी इज्जत-आबरू और राजनीतिक एवं सामाजिक सम्मान के लिए फिर बलिदानी भूमिका निभा रहा है। इसी परिवर्तन को विभिन्न स्तरों पर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य में विशेष रूप से उपन्यास साहित्य में लिया गया है। ग्रामीण जीवन में होने वाले भूमि-सम्बन्धी राजनीति सम्बन्धी एवं समाज-सम्बन्धी परिवर्तनों को इन उपन्यासों ने अपनी कथा-वस्तु के रूप में सीधा-सीधा ग्रहण किया है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी-साहित्य की आलोचना का यह दुर्भाग्य रहा है कि वह नेविलवादी रही है। इन ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी उपन्यासों पर उसकी कृपा 'आंचलिक उपन्यास' कहकर हुई और इनके मात्र शैली पक्ष को लेकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की जाती रही है। डॉ० कुंवरपालसिंह ने आलोचना की इस चौखटबन्दी पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा है—

"वास्तव में बदलती हुई ग्रामीण व्यवस्था पर लिखे गए उपन्यासों के 'आंचलिक' उपन्यास का उनका महत्व कम किया जाता रहा है। और इस वास्तविकता पर परदा डालने का प्रयास किया गया जिसका अध्ययन बहुत आवश्यक है। इन उपन्यासों ने तीन-चौथाई भाग में हो रहे गम्भीर परिवर्तनों की ओर उपन्यासों के पाठकों और आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया था परन्तु इन्हें किसी अंचल विशेष की परिस्थितियां और समस्याएं कहकर नकार दिया गया।" (वही, पृ० 156)

वास्तव में आज का दृष्टिकोण केवल विज्ञापन का शिकार हो रहा है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में सत्य को ओछे तर्कों से दबाने की लम्बी परम्परा रही है। परन्तु जागरूक लेखकों ने इस आंचलिकता को सोद्देश्य ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी कृतियों में इस बात की पुष्टि भी की है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' उपन्यास के प्रथम संस्करण की भूमिका में दिए गए वक्तव्य को देखा जा सकता है—

"यह है 'मैला आंचल' एक आंचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है···इसके हिस्से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस किताब का कथा क्षेत्र बनाया है! इसमें फूल भी है शूल भी, धूल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है चन्दन भी, सुन्दरता भी है कुरूपता भी, मैं किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।" (फणीश्वरनाथ रेणु · मैला आंचल, प्र० सं० की भूमिका में)

डॉ० शिवप्रसादसिंह ने अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में इसी ग्रामीण-जीवन की परिभाषा उन्होंने यहां की जमीन से जोड़कर दी है—

"भाव कोई आदमी है कि उसका कुछ होता रहेगा। अरे भाई यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है कभी गड़ता है। कभी बुरे दिन आते हैं कभी अच्छे दिन आते हैं।··· असली चीज तो धरती है···धरती ही सब-कुछ होती है। विपिन बाबू! उसके बिना आदमी का गुजर नहीं।" (संस्करण वर्ष 1967, पृ० 687)

वास्तव में हिन्दी-साहित्य का आंचलिक जीवन की ओर घुमाव सोद्देश्य रहा है। कविता के क्षेत्र में भी यही प्रवृत्ति हमें सहज रूप में दिखाई देती थी। भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी', रामधारीसिंह दिनकर की 'वन फूलों की ओर', सुमित्रानन्दन पंत की

'ग्राम्या' आदि इसी सहज झुकाव का परिणाम है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इसी सोद्देश्य आंचलिकता पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में लिखा था--

"आंचलिक उपन्यास राष्ट्रीय भावना के उपन्यास हैं। उनके द्वारा विशाल देश, अनेक भूखण्डों की चेतना का बोध होता है और समग्र रूप में एक व्यापक राष्ट्रीय-भावना खड़ी होती है।" (अंक दिनांक 15-3-1964, पृ० 25)

इसलिए ग्रामीण अंचल की ओर रचनाकार नागार्जुन का यह रुझान यकायक नहीं रहा है। इसके पीछे एक लम्बी ऐतिहासिक परम्परा है जैसाकि हम पीछे कह चुके हैं। औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व के कोने-कोने को झकझोर कर रख दिया था। भारत का उन पर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा और यही नहीं औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने में कच्चे माल की आपूर्ति करने में भारत विश्व में सबसे पहला देश था जिसने प्रचुर मात्रा में खनिज पदार्थों को दिया। अतः उन्होंने यहां के संसाधनों का गहराई में अध्ययन कर उनको अपने हितों में प्रयोग करने का भरपूर प्रयोग किया। इसके लिए यहां की राज-नीतिक परिस्थितियों ने लाभ लेकर देश की अर्थव्यवस्था पर कब्जा कर लिया जिससे आत्म-निर्भर गांव वाला देशी-विदेशी पूंजी और शासन का गुलाम बना—

"भारत पर अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता का स्वत. इतना अधिक महत्व नहीं जितना कि इस बात का कि उन्होंने इस सत्ता का खास ढंग से इस्तेमाल किया जिसका भारतीय समाज पर गम्भीर आर्थिक प्रभाव पड़ा।" (ए० आर० देसाई. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 25)

इस तरह उन्होंने कृषि-प्रधान देश भारत के गांवों को नष्ट किया और लगभग डेढ़ सौ साल के भीतर जिस प्रकार से देश खोखला कर दिया यह बात घटनाओं के रूप में इतिहास और राजनीतिशास्त्र में देखने को मिलती है लेकिन प्रभावित रूप में साहित्य के अन्तर्गत विस्तार से देखा जा सकता है।

कहना न होगा कि नागार्जुन के उपन्यासों के विश्लेषण का यह आग्रह निरन्तर बना रहा है कि उन्हें भारतीय भूमि में भूमि की समस्याओं से जोड़कर विश्लेषित किया जाये। परन्तु इस दिशा में सिवाय बने हुए फार्मूले जोड़ने के और कुछ नहीं हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी की गांव की जीवन-सम्बन्धी टिप्पणी इन उपन्यासों को और अधिक अनिवार्य बना देती है—

"कला गांवों में पनपती है, शहरों में नहीं। हम पकवान खाकर रसोइये पर प्रसन्न होते हैं—काश, किसान पर रीझते तो कितना अच्छा होता। जिस समय सिर पर से पानी बहता हो, गले में सांप सोने न दे रहा हो, बदन पर चिथड़ा लिपटा हो, पास में पार्वती—पर्वत-पुत्री खड़ी पसीना पोंछ रही हो, जब उस गरीब के मस्तक पर झुके तभी उस कला की सच्ची पूजा है—शंकर पूजा है। वह किसान ही हमारा शंकर है। सांप टैक्स है—चिथड़े गरीबी है—।" (नया जीवन, मई 1955, पृ० 48)

इस तरह आंचलिक उपन्यास अपने अन्दर विशिष्ट अंचल की उन तमाम आस्थाओं और विश्वासों को समेटता है जिससे नवीनता का पुनः परिचय मिलता चले। डॉ० वेचन का तर्क इसी सोद्देश्य आंचलिकता को और अधिक रचनाकारों के सन्दर्भ में पुष्ट

करता है—

"यह आंचलिक संस्पर्श हम वहीं देखते हैं जहां लेखक का मुख्य उद्देश्य कुछ दूसरा ही होता है और उसकी पूर्ति के लिए वह आंचलिक विशिष्टताओं का चित्रण करता है··· प्रधान उद्देश्य नवीन सामाजिक पृष्ठभूमि में उठते-उभरते हुए नए मानव, आर्थिक सामाजिक संघर्ष एवं जीवन का चित्रण करना है। ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का श्रेय नागार्जुन और रेणु जैसे लेखकों को दिया जाना चाहिए।" (आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और चरित्र-चित्रण, पृ० 185)

वास्तव में नागार्जुन ने अपने सभी उपन्यासों में गांव में घटने वाली तमाम सामाजिक एवं राजनीतिक घटनाओं को बड़े विस्तार से महज इसलिए लिया है कि उनका भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। आंचलिकता उनके लिए एक प्रचार का माध्यम न होकर एक विशिष्ट उद्देश्य की पूरक है। नागार्जुन ने अपने समूचे लेखन में इस बात का सफल निर्वाह किया है।

2

नागार्जुन की जीवन-यात्रा और वैचारिक संकल्प

स्वतन्त्रता के बाद के लेखकों और कवियों में नागार्जुन प्रथम पंक्ति के कवि-लेखक है। नागार्जुन ने अपने समूचे लेखन में चाहे यह कविता हो अथवा उपन्यास चाहे वह मैथिली रचना हो या संस्कृत या हिन्दी, आम आदमी के दुःख-दर्द, दैनिकपीडा और करुण क्रन्दन से उभरते हुए आक्रोश को अभिव्यक्त किया है। उनका समूचा चिन्तन-जगत् उन लाखों-लाख मूक चेहरों से भरा हुआ है जो जुबान रखते हुए भी बेजुबान हैं, शक्ति सम्पन्न होते हुए भी शक्तिहीन है, बहुसंख्यक होते हुए भी अल्पसंख्यक है तथा दिन-रात कमाते हुए भी भूखे और नंगे रहकर जिन्दगी पूरी कर रहे हैं।

नागार्जुन का तादात्म्य इस तरह के समाज से यकायक नहीं हुआ। जीवन के पड़ावों, मोड़ों, चौरस्तों-चौराहों और धूल भरी गली-गलियारों में प्रविष्ट होने पर ही यह उन्हें हासिल हुआ है जिसे उन्होंने अपनी शब्द-राशि के माध्यम से सच्चे साहित्यकार के रूप में जन-मानस के निकट रखा है। उनके लेखन के प्रारम्भ से लेकर अब तक के तमाम वैचारिक धरातल उनके जन्म से लेकर अब तक के अनुभवों से संचित रूप है। अतः उनके जीवन पर भी दृष्टि डाल लेना अनिवार्य है—

जन्म : नागार्जुन की जन्म-तिथि का ठीक-ठीक पता स्वयं नागार्जुन को भी नहीं मालूम है। क्योंकि मां के बहुत पहले ही स्वर्गवासी होने तथा पिता की घनघोर लापरवाही ने उनके भविष्य तक को खतरे में डाल दिया था। कवि की जन्म-तिथि के बारे में यों मान लिया गया है कि 1911 के जून मास की कोई तिथि (ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा) नागार्जुन की जन्म-तिथि है। स्वयं कवि को अपनी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में सन्देह है क्योंकि तिथि और वर्ष का लिखित आधार उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित है कि जेठ का महीना था जैसाकि उनकी नानी से उन्हें मालूम हुआ। (डॉ० प्रकाशचन्द्र भट्ट : नागार्जुन जीवन और साहित्य 1974, पृ० 17)

नागार्जुन का जन्म उनकी ननिहाल सतलखा, पोस्ट मधुबनी, जिला दरभंगा में

हुआ था। परन्तु स्कूली शिक्षा में उनके पिता की जन्म-भूमि तरौनी ही रही।

नागार्जुन अपने पिता की छठवीं सन्तान हैं।[1] उनसे पूर्व पैदा होने वाले तमाम शिशु चलते बने। इसके जन्म से पूर्व इनके पिता गोकुलनाथ मिसिर ने वैद्यनाथ धाम (देवघर, जिला संथाल परगना) जाकर एक महीने का अनुष्ठान किया था। अत: इनका जन्म का नाम बाबा वैद्यनाथ के नाम पर ही रखा गया। परन्तु बाद में अशुभ होने के डर के कारण उन्हें परिवार के लोग 'ठक्कन' कहने लगे—

"परिवार की बूढ़ी महिलाओं को चिन्ता हुई कि इतना अच्छा नाम रहेगा तो लड़के को अशुभ होगा, इसी से उन लोगों ने 'ठक्कन' नाम रखा जिससे यह भासित हो कि यह लड़का चार दिनों के लिए आया है और मां-बाप को ठगकर चला जायेगा।" (वही, पृ० 17)

नागार्जुन के पिता गोकुलनाथ मिसिर थे जोकि प्रारम्भ से ही बेहद आलसी, परिवार के प्रति घोर उदासीन तबीयत के थे। उन्होंने कभी भी परिवार के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझा। वे सदैव इधर-उधर ही रहे। कम पढ़े-लिखे और रूढ़िवादी होने के कारण वे सदैव अपनी ही दुनिया में मस्त रहते थे।

नागार्जुन की माता का नाम उमा देवी था। वे सीधी-सादी सरल स्वभाव की थी। अधेड़ उम्र में उनके देहावसान से बालक नागार्जुन मातृ-प्रेम से सदैव के लिए वंचित हो गया। पिता श्री ने कभी उनके दुःख-दर्द की पूछी नहीं। अत: ये प्रारम्भिक जीवन की दो महान् घटनाएं ही उनके व्यक्तित्व में उभरकर आईं जिनके द्वारा आज लेखक अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर बैठकर अपने दिल की घुंडी खोल रहा है।

कटु-अनुभवों की शुरुआत

नागार्जुन जब चार ही वर्ष के थे तभी इनकी माता उमा देवी का देहान्त हो गया था। नागार्जुन अपनी मां के देहान्त का कारण अपने पिता द्वारा की गई घोर उपेक्षा का कारण मानते हैं। पिता द्वारा दी गई मां को प्रताडना से नागार्जुन का बाल-मन मन-ही-मन सुलग उठा था। इस मातृ-विछोह की ज्वाला की चिनगारियां उन्होंने 1947 में 'रतिनाथ की चाची' में फेंकी हैं। माता-पिता के दाम्पत्य-जीवन पर उन्होंने ऐसा कसकर लिखा है जो अन्यत्र दुर्लभ है—

"रतिनाथ को अपनी मां याद नहीं है। थोड़ा-सा आभास मात्र है। वह गौरश्याम थी। उसे दमा का रोग था। बस यही रत्ती को याद है। मां का चेहरा कैसा था। कपाट छोटा, आंखें न छोटी न बड़ी। नाक नुकीली नहीं थी। मां का प्रसंग छिड़ते ही एक

1. डॉ० प्रकाशचन्द्रभट्ट ने इन्हें पांचवीं सन्तान कहा है, डॉ० विजय बहादुर सिंह ने अपनी पुस्तक 'नागार्जुन और उनका रचना-संसार' में नागार्जुन को छठी सन्तान बताया है।

भयानक दृश्य उस लडके की आखों के आगे नाच जाता था। वह नही चाहता था कि इस तरह का अप्रिय और भयानक दृश्य उसे याद आये। किन्तु सिर्फ आंखें मूद लेने से ही कोई बात मन मे न आए ऐसा तो कही हुआ नही।

क्या थी वह बात यही कि रतिनाथ की बीमार मा बिस्तरे पर लेटी पड़ी है और जयनाथ रुद्र रूप धरकर बेचारी की छाती पर बैठा है। हाथ मे कुल्हाडी है और वह अपनी स्त्री की गर्दन रेतता जा रहा है। वह घिघिया रही है, लेकिन कोई भी इस नरमेघ में हस्तक्षेप करने वाला वहा मौजूद नही है—मां घिघियाती है। साढे तीन साल के अबोध रत्ती ने यह दृश्य देखकर दम साध लिया है। घर के कोने मे बैठा हुआ वह कनखी से रह-रहकर अपनी मां और बाप को देख लेता है···

मां की स्मृति के साथ वह भयानक चित्र रत्ती की आंखों के आगे आ जाता है। पिता के रुद्र स्वभाव के प्रति इस बालक के हृदय में प्रतिहिंसा की आग कभी-कभी सुलग उठती है। तभी भौंहो और चढी आखो से वह बाप की ओर घूरता है। जिसको सदैव चाची से घुल-घुलकर बातें करते पाया है, उसी का अपनी मा के प्रति नृशंस और रूक्ष-व्यवहार रतिनाथ की समझ से परे की बात थी। वह चार साल का था, तभी मा मरी थी। मा के बाद चाची ने ही उसकी देखभाल की है। क्रोधी स्वभाव के इस पिता से चाची ही उसे बचाती आई है।—पिता के प्रति उसकी भक्ति या श्रद्धा बिल्कुल दिखावटी थी।" (रतिनाथ की चाची, पृ० 31-32)

नागार्जुन के बालजीवन की यह घटना उन्हे आज भी तिलमिला कर रख देती है। पत्नी के प्रति उपेक्षा का भाव रखने वाला पिता संतान के प्रति कभी भी सहानुभूति नही रखता यह नागार्जुन ने पहली बार अपने साथ घटी घटना से जाना। 'रतिनाथ की चाची' पर उनके पिताजी ने किस कदर डांटा था—डॉ० शिवकुमार मिश्र ने उन्ही के शब्दों मे कहा है—

"सामने नागाजी (नागार्जुन) का शिशु चेहरा। पीछे एक अधेड़ पुरुष की प्रौढ मुखाकृति···अगले ही क्षण चेहरे पर क्रोध का तनाव···होंठ कांप रहे हैं। (मैं तेरा हाथ काट लूंगा! क्या अट-संट लिख मारा है तूने? बाप की बुराई कौन करता है?)

"मगर मैंने झूठ थोड़े लिखा है। मेरी चाची से आपका क्या रिश्ता था? उस रोज दोपहर की उमस मे अन्दर लेटी हुई मेरी मां का गला कुल्हाड़ी से किसने काटना चाहा था।···कोई बात नही, लेकिन मेरी मां को और मेरे पाच भाई-बहनों को किसकी उपेक्षा का शिकार होकर दम तोड़ना पड़ा था?

"*चोप! जीभ खीच लूगा।—जानता नही, मैं कितनो की पसलियां तोड़ चुका हू।* रोब के मारे गांव के युवक मुझे 'गुरु' कहकर पुकारते हैं।" (साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ, 1977, पृ० 121)

माता और पिता के प्यार से कोसो दूर बालक नागार्जुन ने बचपन मे ही नारी जीवन की उपेक्षा और वैधव्य के साथ होने वाली खिलवाड़ से नष्ट होते हुए भविष्य को देखा था। उसने जाना था कि उसके पिता सरीखे हजारो कामुक, लालची और लंपट नारी के सतीत्व को सुरक्षित नही रहने देते। गौरी जैसी अनेको विधवा चाचियां अंधेरी-

उजेली अमावस-पूर्णिमा की रातों में इन निशाचरों की काम-पिपासा का शिकार होकर अनैतिक गर्भ ढोती, गिराती, जीवन-भर जीवित लाश बनी रहती है। उनकी इसी चेतना ने उन्हें झकझोर कर रख दिया। अतः वे इन समाज श्वानों के चंगुल से निरीह विधवाओं का 'उग्रतारा' में इसीलिए पुनर्विवाह कराते हैं, 'दुख मोचन' में अन्तर्जातीय विवाह कराते हैं एवं पति आदि के कठोर अनुशासन पर विधवा को स्वतन्त्र निर्णय के लिए घर से बाहर मनचाहे पति के साथ 'अभिनन्दन' में विदा करते हैं तथा नारी समाज को संगठित कर शोषित नारियों की नारी समाज द्वारा कुंभीपाक में इसीलिए सहायता करते हैं कि यह लम्पट समुदाय फिर कभी इस तरह का व्यवहार न कर सके।

'जमनिया का बाबा' में बाबा अभयानन्द की पिटाई की एक और घटना नागार्जुन के साथ जब घटी। तब से धर्म मठों में होने वाले अत्याचार, ढोंग और आडम्बर को सहन नहीं कर सके। वे जमनिया के मठ पर व्याप्त अंधविश्वास का विरोध करते हैं। इस विरोध पर उनकी भ्रष्ट साधुओं से तकरार होती है। वे चुप नहीं रहते। गोरखपुर के मजिस्ट्रेट से जाकर वहां के मठाधीश की दुर्गति करा देते हैं। 'आयने के सामने' में नागार्जुन ने लिखा है—

"'तुमने मुझे पिटवाया था। मैंने तुम्हें दो वर्ष जेल की सजा करवाई थी। तुम्हारी जटा तीस हाथ लम्बी थी। गोरखपुर के पारसी मजिस्ट्रेट ने तुम्हारी गिरफ्तारी के बाद पहला काम यही किया कि जटा मुड़वा दी'''इलाके में तुम्हारे ढोंग की तूती बोलती थी—नागा बाबा ने बुलहवा के बाबा की माया को पंक्चर कर दिया गवाहों ने अदालत में कहा था—"वह व्यक्ति मूलतः 'तुमही' का रहने वाला मुसलमान है और भागकर नेपाल चला गया था। वहां से साधु बनकर लौटा'''काले चेहरे की लाल आंखें बार-बार मुझे घूर रही हैं।"

"इस आपबीती सत्य घटना से प्रेरित हो लेखक ने बाबा के मुसलमान होने, नेपाल भाग जाने, वहां से आकर साधु के रूप में मठ चलाने, मठ को व्यभिचार, अबोध जनता के शोषण और राष्ट्र-विरोधी कार्यों का अड्डा बना लेने की घटनाओं के रहस्य से परिचित कराने हेतु इमरतिया (जमनिया का बाबा) उपन्यास लिखा है।" (प्रकाशचन्द्र भट्ट : नागार्जुन जीवन और साहित्य, पृ० 212)

नागार्जुन बनारस में पढ़ते थे। वह समय इनके जीवन का उषा काल था। उस समय का वातावरण ही इन्हें स्वाभिमानी और रूढ़िभंजक बनाता चला गया है। वह अकेला अपने रास्ते का राही बना और अपने प्रारम्भिक जीवन में अपने आगामी भविष्य का संकेत दे दिया। बनारस एक ओर तो संस्कृत का, पूजा, पाठ, पण्डों, पुरोहितों का शहर था तो दूसरी ओर मालवीय जी जैसा समाज-सुधारक वहीं था। नागार्जुन ने इन दोनों क्षितिजों से अपने अर्थ की बातें अर्जित कीं। इन्हीं दिनों की दो और घटनाएं उसके जीवन को और अधिक विद्रोही और संघर्षशील बनाती गईं। एक घटना इस तरह है—

"दरभंगा महारानी लक्ष्मीश्वरी की देखरेख में एक छात्रावास और धर्मशाला संचालित होती थी जिसमें ऊपर की मंजिल में संस्कृत विद्यालय के छात्र और निचली

मंजिल मे यात्रियो के लिए ठहरने की व्यवस्था थी। मैथिल तीर्थ यात्री अकसर इसी धर्मशाला के कमरों में ठहरते थे। एक दिन छात्र वैद्यनाथ ने देखा कि तीर्थयात्रियों का दल तो जा चुका है किन्तु एक कोठरी की कुण्डी बाहर से लगी हुई है और मोहड़ी से कुछ पीला बदसूरत मवाद रिस रहा है। बदबू अलग से आ रही है। भयानक बदबू के बावजूद किसी का भी ध्यान उधर नहीं जा रहा है। वैद्यनाथ चुपके-से गये तो दरवाजा खोलकर देखा कि कोई बुढ़िया मरी पड़ी है और बदबू उसी की सड़ी अकड़ी हुई सड़ती लाश से आ रही है। पहले तो वे चुपचाप चादर से उसे ढंक आये फिर अपने एक विश्वस्त नेपाली सहपाठी को इसके लिए तैयार कर लिया कि यह इस अपरिचित और लावारिस शव के अन्तिम संस्कार में उनकी मदद करे। काम काफी टेढ़ा था और टेंट मे धेला तक नहीं। फिर भी लाश को एक निजी पिछोरी (ओढ़ने की चादर) मे गठरी की तरह बांधकर दोनों ने चुपचाप श्मशान घाट पहुंचा दिया। वैद्यनाथ अपने साथी को वहीं छोड़ रानी के दरबार मे हाजिर हुए। काफी पूछताछ के बाद रानी लक्ष्मीवती के दो आदमी आए और शवदाह की व्यवस्था करके चले गए। दाह-क्रिया स्वयं वैद्यनाथ ने की। इस घटना का पता जब छात्रावास के अन्य साथियों से काशी की स्वनामधन्य पण्डित मण्डली को चला तो वैद्यनाथ पर तरह-तरह के लांछन लगाए गए। चाण्डाल तक कहा गया। वैद्यनाथ को इससे विचलित होने का कोई कारण नहीं था। उन्हें यह होश तब तक हो चुका था कि सेवा ही संस्कृति का सार है।" (डॉ० विजयबहादुर सिंह : नागार्जुन और उनका रचना संसार, 1982, पृ० 18-19)

एक बार बनारस में ही रहकर बनारस और इलाहाबाद की यात्रा के दौरान उन्होंने एक जूता गांठने वाले मोची के यहां सब-कुछ जानकर, देखकर पानी पिया था, गुड़ खाया था।

इस तरह नागार्जुन ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे ही पूत के पांव पालने में दिखा दिए। उन्होंने समाज की विद्रूपताओं को घुसकर देखा है, उनसे टक्कर लेकर उनकी जड़ें उखाड़ फेंकी हैं। गरीब, दलित, शोषित समाज के प्रति उनकी हमदर्दी दिन-पर-दिन बढ़ती गई। वे उसी वर्ग के होते चले गए।

शिक्षा एवं संपर्क

जिस पिता ने कभी दाम्पत्य जीवन का सार ही न समझा हो, दिन-रात घर में क्लेश और कोप का वातावरण बना रहा हो वहा संतान की परवरिश और उसके भविष्य की आशाएं निश्चित रूप से अंधकार में ही तिरोहित हो जाती हैं। नागार्जुन के साथ भी उनके पिता ने ऐसा करने मे कोई कोर कसर न उठा रखी थी। पिता गोकुलनाथ सदैव आलसी, मंद बुद्धि और नागार्जुन के ही शब्दों में 'मूर्ख' थे अतः उन्होंने कभी भी बाल नागार्जुन की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं किया। वही संस्कृत की पुरानी रटी-रटाई

पटरी पर नागार्जुन को सिर रगड़वाते रहे। शिक्षा के समय में वे सदैव कहा करते—"सेंत-मेंत में लड़का पढ़कर तैयार हो जायेगा, अपनी तो एक कौड़ी भी नहीं लगेगी। उल्टे पढ़ाई के दिनों में भी चाहेगा तो हमारी मदद करता रहेगा।" और वास्तव में हुआ भी यही, नागार्जुन संस्कृत विद्यालयों में पढ़ते रहे। बड़े श्रीमंतों के यहां नौ दुर्गा के दिनों में चंडी पाठ कराकर पिता को अठारह आने देते रहे। अपनी शिक्षा के बारे में और पिता के अभिभावकीय व्यवहार पर उन्होंने 'रतिनाथ की चाची' में लिखा है। लोअर प्राइमरी से अपर प्राइमरी की शिक्षा का खर्च चार-पांच रुपये जानकर उनके पिताश्री की यह अमृतवाणी दर्शनीय है—

"नहीं कभी नहीं, यह नहीं हो सकता। प्रातः स्मरणीय नील—माधव उपाध्याय का वंशधर म्लेच्छ भाषा पढ़ेगा। उसी दिन धरती उलट जायेगी और आसमान से अंगारे बरसने लगेंगे। वकील-बालस्टर बनकर प्याज, लहसुन और अण्डा नहीं खाना है रत्ती को, उसे तो अपने पूर्वजों की कीर्ति-रक्षा करनी है'''बस, एक फटा-कटा अमर-कोष कहीं से उठा लाये और बेटे के हाथों में थमाते हुए कहा – क्या करना है, अंग्रेजी पढ़कर क्रिस्तान बनना है। लो, यह अमर-कोष! जिस दिन यह कण्ठस्थ हो जायेगा, उस दिन तीनों लोक तुम्हारे लिए हस्तामलक हो जायेंगे।" (रतिनाथ की चाची, पृ० 35-36)

यह थी बच्चे के भाग्य-विधाता पिता की दारिद्र्यदिली जिसने नागार्जुन को कभी भी बचपन में प्रोत्साहन नहीं दिया, उसमें कभी भी आत्मविश्वास पनपने नहीं दिया और वह संस्कृत के 'टोलों' में अपनी शिक्षा के सोपान पूरे करता रहा—

"शिक्षा संस्कृत शाला में, पैतृक विद्या-निधि जो भी घर में पाई। बाद में नागार्जुन ने किसी अंग्रेजी स्कूल, कॉलिज, यूनिवर्सिटी का मुंह नहीं देखा। कोई परीक्षा पास नहीं की। जिन्दगी की खुली पुस्तक से कबीर की तरह 'आंख की देखी' सीखा। और वही ईमानदारी से लिखा।" (डॉ० प्रभाकर माचवे : नागार्जुन, 1977, पृ० 4)

बनारस में शिक्षाध्ययन करते समय उनका सम्पर्क मालवीय जी से हो चुका था। वे प्रेमचन्द से भेंट कर चुके थे। तथा पंडित बलदेव मिश्र से गांधीवादी विचारों से प्रभावित हो चुके थे। तथा बनारस में ही रहकर 'आर्य समाज' से उन्होंने छुआछूत का भेदभाव न मानने एवं स्त्रियों को बराबरी का दर्जा देने जैसी क्रांतिकारी बातें सीखीं। इन्हीं बातों का असर उन पर दिन-पर-दिन गहराता चला जा रहा था। उनके भावी चिन्तन में यह तमाम पड़ाव सामग्री का कार्य कर रहे थे।

शास्त्री की परीक्षा देने के बाद नागार्जुन कलकत्ता की ओर निकल गए। वहां पर वे संस्कृत कॉलेज से प्राकृत भाषा का विशेष अध्ययन करना चाहते थे। परन्तु कॉलिज के प्रिंसीपल एस० एन० दास गुप्ता का भारी दबदबा था। बंगाल में लोग उन्हें बाघा (टाइगर) प्रिंसीपल कहा करते थे। यह बाघा प्रिंसिपल साक्षात्कार के माध्यम से विद्यार्थियों की भर्ती करते थे। नागार्जुन को अपनी संस्कृत भाषा पर पूरा भरोसा था।

"उन्होंने उनके एक चपरासी को चार आने घूस देकर अपनी संस्कृत कविता उधर पहुंचा दी और खुद आकर क्लास-रूम के एक कोने में बैठ गए। इण्टरव्यू के समय प्रिंसिपल महोदय यह कागज हाथ में झुलाते हुए आये—'एइटा कार रचना? के लिखे

चे ? के ? आमि देखि तो ?' चोर पकड़ा गया के अन्दाज में उन्होंने कहा— 'धरे गेलो सर ! धरे गे लो' और घोषणा की—'आर तोमर परीक्खा होवे न। एइ होले'।" (डॉ० विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 21-22)

नागार्जुन का कवि मन बहुत पहले से ही कुहकने लगा था। उनकी कविता उन्हें आगे लाने के लिए काफी मदद करती थी। बंगाल मे इसी के बलबूते पर कालिज में प्रवेश हो पाया। वहीं रहकर नागार्जुन ने बंगला भाषा सीखी। नागार्जुन पर यहीं 'ब्राह्म समाज' के क्रांतिकारी विचारों का प्रभाव पड़ा। नारी को आधुनिक शिक्षा देने की प्रेरणा नागार्जुन ने यहीं से प्राप्त की। इस प्रकार नागार्जुन अपने विद्यार्थी जीवन में ही विचारों से सम्पन्न होते गए और उन्हे अमली जामा देने के लिए कविताए धड़ल्ले से रची जाने लगीं। उनका अध्ययन का अन्तिम दौर लंका मे कोलम्बो शहर मे पूरा हुआ।

गृहस्थ-संन्यास और पुनः गृहस्थ

नागार्जुन का विवाह उन्नीस वर्ष की उम्र में हरिपुर गांव के सम्पन्न परिवार की बेटी अपराजिता देवी के साथ हुआ। अपराजिता धनी मां-बाप की इकलौती बेटी थी। परन्तु वे कुशल गृहिणी थी। नागार्जुन उन्हे प्यार से 'अपू' कहा करते थे—

"क्या बात करती हो अपू ! तुम तो मेरी सहधर्मिणी हो, ठेठ सनातन अर्धांगिनी श्रीमती अपराजिता देवी। हमारी अपनी देहाती जायदाद और घर-आगन की मालकिन।" (डॉ० शिवकुमार मिश्र : साहित्य और सामाजिक सन्दर्भ, पृ० 122)

सन् 1933 में गौना हो जाने के दो-तीन महीने बाद ही नागार्जुन देश-देहात के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए घर से निकल पड़े। घर पर पिताजी से कभी बनती नहीं थी। अत' परिचित सत्य से अपरिचित सत्य की तलाश ने लेखक को चैन से नहीं बैठने दिया। अपने पिता के व्यवहार से वे अन्दर-ही-अन्दर सुलगते रहते थे। अतः पत्नी के साथ इस समय द्विरागमन पर मुश्किल से तीन-चार महीने ही रहकर अपना झोला-झंडा उठाते हुए 1934 मे घर की देहरी को पार कर दिया। नागार्जुन के असली जीवन की शुरुआत यहीं से होती है।

नागार्जुन घर से निकलने पर काठियावाड (गुजरात), अबोहर आदि स्थानों पर चलते गए। काठियावाड़ मे उन्होंने जैन मुनियों को प्राकृत पढ़ाई। लेकिन उठाऊ प्रवृत्ति ने उन्हें वहा नहीं जमने दिया। वे पंजाब पहुचे और वहा स्वामी केशवानन्द के साथ कुछ दिन रहे और मासिक पत्र 'दीपक' का संपादन किया। यहीं रहकर इन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की बात सोची और बुद्ध की प्रामाणिक वाणी देखने की लालसा से उन्होंने 'महाबोधा सोसाइटी कलकत्ता' को पत्र लिखा। जवाबी पत्र मे श्रीलंका का हवाला था, देखकर नागार्जुन की बाछें खिल गईं। वे अंगोछा फटकारते हुए उठ खड़े हुए। स्वामी

केशवानन्द के समझाने पर भी वे "आगे की पढ़ाई भी देश के ही काम आवेगी। आप यही तो चाहते हैं कि आदमी पढ़-लिखकर देश के काम आवे और पढ़ लूंगा तो और काम आऊंगा" कहते हुए निकल पड़े। पास मे पैसे नही। गरीबी और दरिद्रता उनके साथ थैली की तरह सदैव लटकती रही। स्वामी केशवानन्द ने कुछ पैसे दिये थे, मद्रास पहुंचते ही एक गिरहकट ले उड़ा। लंका प्रवास ने नागार्जुन को बौद्ध भिक्षु बनाया और यही उनका नामकरण 'नागार्जुन' हुआ जो हिन्दी के अपने ढंग का अकेला साहित्यकार है। सन्यासी होने पर ही नागार्जुन ने सिर मुड़ाकर लंका में बौद्ध धर्म मे प्रवेश पाया—

"यों तो भिक्षु बिरादरी वैद्यनाथ जी को काफी सम्मान देती थी। पर जब साथ-साथ उठने-बैठने का सवाल आता तो उसे नीचे आसन पर बिठाया जाता क्योंकि वह गैरिक वस्त्रधारी सन्यासी जो नही था। एक स्वाभिमानी भारतीय पण्डित को यह बात अकसर खलती रहती थी और उसे यह भी तो मालूम था कि बौद्ध भिक्षु बुद्धिबल और पांडित्य में उसकी बराबरी के नही हैं। आपस में यह चर्चा कभी-कभी हो भी जाती थी पर सन्यासी बेचारे वैद्यनाथ को बराबरी का आसन दे ही कैसे सकते थे। जब तक कि वह खुद सन्यास ग्रहण न कर ले। आखिर एक दिन वैद्यनाथ ने तय किया कि जब तक 'विद्यालकार परिवेण' मे रहना है—सन्यास ले लेने मे ही हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति मिल सकेगी। आचार्य वैद्यनाथ को अपनी इच्छा का भिक्षु नाम जब चुन लेने की स्वतन्त्रता मिली तो उन्होने विख्यात दार्शनिक 'नागार्जुन' का नाम अपने लिए चुना।" (डॉ० विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 23)

यही केलानिया मे 'विद्यालकार परिवेण' विद्यालय में राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, आचार्य जगदीश आदि ने बौद्ध शिक्षा ग्रहण की थी, उनकी शृंखला में अब नागार्जुन भी शामिल हो गए। यहां रहकर उन्होने अंग्रेजी भी सीख ली। नागार्जुन के विचारों मे यहा रहकर क्रांतिकारी परिवर्तन आ रहा था। वे वामपंथी चिंतन में रुचि लेने लगे थे जो कि अधिकारों का पक्षपाती था। इधर बौद्ध-दर्शन का समता-समानता वाला सिद्धात उन्हें समाज की असंगतियों को ध्वस्त करने मे अमोघ शक्ति दे रहा था। वे अब देश और समाज की दशा-दिशा पर नजर टिकाये हुए थे। और प्रतीक्षा अवसर की थी कि इन्ही दिनो बिहार मे किसान आंदोलन शुरू हो गया। स्वामी सहजानन्द इस आदोलन को गति प्रदान कर रहे थे। नागार्जुन को उन्होंने पत्र लिखा—

"वहा मुर्दों के चक्कर मे क्यो पडे हो? आओ और जनता के लिए काम करो।" (वही, पृ० 23)

नागार्जुन यह सुनकर भारत लौटे और 'किसान आदोलन' मे सक्रियता दिखाने लगे। उनकी कविताओं का क्रम साथ-साथ चल रहा था। नागार्जुन की पहली गिरफ्तारी इसी आदोलन मे हुई। डॉ० प्रभाकर माचवे ने इनकी गिरफ्तारी के बारे में लिखा है—

"नागार्जुन भारत लौटे सन् '38 के मध्य मे। अमवारी (बिहार) के अत्याचारी भूस्वामी के खिलाफ राहुल सांकृत्यायन ने नेतृत्व किया। उसके भिक्षु-जैसे मुंडित सिर पर

लाठी पड़ी।" नागार्जुन को किसानों के आंदोलन के लिए पकड लिया गया। छपरा और हजारीबाग जेल में दस महीने जेल में रहना पड़ा।" (नागार्जुन, पृ० 5)

नागार्जुन का इधर सम्पर्क सूत्र कई महत्वपूर्ण लोगों से जुड़ा। समाजवादी चिंतक कार्यानन्द और श्यामानन्दन मिश्र से उनकी भेंट होने लगी। इसी बीच उनका पत्र-व्यवहार नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से हुआ। क्रांतिकारी आदर्श उनके जीवन को और अधिक क्रांति के रंग में रंगने लगे। दूसरी बार जब वे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भूमिगत थे इनकी गिरफ्तारी हुई और भागलपुर की जेल में आठ महीने रहना पड़ा। यहीं भागलपुर की जेल में पता लगने पर इनके पिता गोकुलनाथ आ पहुंचे। उन्होंने रोते हुए जेलर से कहा—

"यह लड़का वर्षों से भागा हुआ है। बुढ़ापे में हमें सता ही रहा है पर एक बछिया की पीठ में छुरा घोंपकर बाबाजी बना घूमता है। इस कसाई को जब आप जेल से रिहा करने वाले हों तब तार देकर मुझे बुलवा लेंगे, हम चार जने मिलकर आवेंगे और इसे पकड़कर घर ले जायेंगे।" (डॉ० प्रकाशचन्द्र भट्ट: नागार्जुन जीवन और साहित्य, पृ० 25)

और वास्तव में हुआ भी यही—

"सचमुच ही दुबारा जेल के फाटक पर हाजिर होकर पिता ने नागार्जुन को अपनी हिरासत में ले लिया।" (वही, पृ० 25)

जेल के इस छुटकारे पर वे गृहस्थ आश्रम में पुन. प्रविष्ट हुए। समाज में बड़ा बावेला मचा। 'संन्यासी के बाद गृहस्थ' होने पर उनके ऊपर तरह-तरह के लांछन और व्यंग्यवाण पड़ने लगे।

"एक तो संन्यास से वापस आया और दूसरा समुद्र पार कर गया, तीसरी बात कि बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। बौद्ध तो आधा मुसलमान होता है—आधा ईसाई। वे गाय भी खाते हैं और सूअर भी। यह लड़का ब्राह्मणों के समाज में फिर से वापस लिया ही नहीं जा सकता।" (वही, पृ० 26)

परन्तु गांव में युवक दल ने नागार्जुन को जमा कर छोड़ा अब वे गृहस्थी का भार उठाने के लिए तैयार हो गए। परन्तु उनका जन-सामान्य से सम्पर्क नही छूटा। वे अपने पिताश्री को खुश रखने के लिए 'बुढवर विलाप' जैसी छोटी-छोटी कितबिया छपवाकर रेलों, शहरों में घूम-घूमकर बेचते रहे। पैसों की रेजगारी आती रही।

विद्रोही प्रवृत्ति—जेल-यात्राएं और साहित्य-सृजन

नागार्जुन को शोषण, अन्याय और असमानता से लड़ने की लत बचपन से ही पड़ गई थी। इस आदत ने उन्हे कही भी चैन से नही बैठने दिया। उनका मैथिली का नाम 'यात्री' इस लत के साथ बड़ा मेल खाता है। बचपन से ही फक्कड घुमक्कडी ने उन्हे

दुनिया-देहात का ऐसा चस्का लगाया कि वे कहीं भी दो दिन चैन से नहीं बिता सकते।

नागार्जुन का झुकाव सदैव से ही जन-संघर्ष की ओर रहा। उनकी पहली गिरफ्तारी इसी सम्बन्ध में हजारीबाग सेन्ट्रल जेल में हुई। वहां वे दस महीने तक कैद में रहे। *अपराध था कि बिहार के अमवारी के अत्याचारी भूस्वामी के खिलाफ शोषित-पीड़ित* किसानों का साथ। परन्तु नागार्जुन इस गिरफ्तारी से और अधिक उत्साहित हुए और जेल से छूटकर वे राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने लगे।

नागार्जुन इधर सुभाषचंद्र बोस जैसे जुझारू नेताओं के संपर्क में आ रहे थे अतः उन्होंने अपना संघर्ष का रास्ता ढूढ़ निकाला था। द्वितीय महायुद्ध में कांग्रेस की नीतियों में दरार पड रही थी। नागार्जुन कांग्रेस से बिल्कुल सहमत नहीं थे। उन्होंने सम्मानी आजादी के लिए सुभाषचद्र बोस की नीति का अनुसरण किया। वे समाजवादी और वामपंथी विचारों की ओर थे। ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सहयोग न दिया जाए—इस तरह का युद्ध-विरोधी आन्दोलन पटना में बिहार के अन्तर्गत फारवर्ड ब्लाक के लोग कर रहे थे। नागार्जुन ने इस आन्दोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। उन्होंने इस आन्दोलन को तेज करने में विशिष्ट भूमिका निभाई। वे देहात से किसानों से दाल, चावल वसूलते थे और कार्यकर्ताओं को लाकर खिलाते थे। उन्होंने असहयोग के रूप में एक पेम्फलेट भी निकाला था—"न एक भाई न एक पाई" (अर्थात् ब्रिटिश सरकार की द्वितीय विश्व-युद्ध में कोई भी मदद नहीं की जायगी, एक आदमी तक भारत की ओर से न जाये, एक पैसा तक अंग्रेजों को न दिया जाये)। (डॉ० विजयबहादुर सिंह : नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 24) इस तरह के पेम्फलेट ने जनता में खलबली पैदा कर दी। परिणामस्वरूप अंग्रेजी शासन की नजर इन पर पड़ी। नागार्जुन भूमिगत हुए परन्तु पकड़े गये और आठ महीने भागलपुर जेल में कैद काटी। यहीं से नागार्जुन कांग्रेस और विदेशी शासन के खिलाफ जमकर लिखने लगे। वे जन आन्दोलनों को भड़काने के लिए कविताएं लिख-लिखकर रेलों, बसों आदि पब्लिक समूहों में सुनाते। उनके 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' में यही 1936 से 1948 तक की राजनीतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि है। उभरते हुए किसान आन्दोलन, कांग्रेस की ढुल-मुल नीति, पूंजीपति और कांग्रेस सामंत और साम्राज्यवादियों का गठबन्धन उन्होंने खूब उजागर किया है। नागार्जुन को कांग्रेस की नीतियों से नेताओं से सदैव नफरत रही लेकिन वे गांधीजी को व्यक्तिगत स्तर पर बहुत मानते थे। उन्होंने 'बाबा बटेसरनाथ' में लिखा है—

"आजादी के लिए जो समझदारी पहले थोड़े-से पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित थी, उसे गांधी जी आम पब्लिक तक ले आये। यही उनकी सबसे बड़ी खूबी मैं मानता हूं।" (पृ० 85)

और उनकी हत्या पर बिलबिलाकर उन्होंने "तर्पण कविता 'युग धारा' में लिखी थी—

"जिस बर्बर ने
कल किया, तुम्हारा खून पिता
वह नहीं मराठा, हिन्दू है
वह नहीं मूर्ख या पागल है
वह प्रहरी है स्थिर स्वार्थों का
वह जागरूक, वह सावधान
वह मानवता का महा शत्रु'''
वह मनुष्यत्व के पूर्ण चन्द्र का सर्वग्रासी महाराहु ।"

लेकिन वे कांग्रेसी खेलों में कभी खुश नहीं रहे। उनकी 'बलचनमा' में की गई भविष्यवाणी "यह जो दस-दस पांच-पांच आदमी कुर्ता, धोती, टोपी पहनकर गले में माला डाले चढ़उआ बकरे की तरह नामक बनाते जाते थे सो मुझे बाबू लोगों का एक खिलवाड़ ही लगता था।" सच्ची निकली। इस बात का प्राकट्य उन्होंने आजादी के मिलने के तुरन्त बाद 'हंस' (जून 1949) में छपी कविता से कर दिया—

"राम राज्य में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है
सूरत शकल वही है बिल्कुल बदला केवल ढांचा है।
नेताओं की नीयत बदली फिर तो अपने ही हाथों
भारत माता के गालों पर कस कर पड़ा तमाचा है।"

जेल जाने का सिलसिला और विद्रोही संत बाबा नागार्जुन की अभी तक बनी हुई है। आपातकाल में उन्होंने इन्दिरा सरकार की घोर भर्त्सना की थी और जे० पी० मूवमेंट में इसी कारण उन्हें जेल यात्रा करनी पड़ी। इन्दिरा गांधी की तानाशाही पर उन्होंने 'क्या हुआ आपको ?' शीर्षक कविता से प्रहार किया था—

"आपकी चाल-ढाल देख-देख लोग हैं। दंग
हुकूमती नशे का कैसा चढ़ा रंग
छात्रों के खून का चस्का लगा आपको
काले चिकने माल का मस्का लगा आपको
किसी ने टोका तो ठस्का लगा आपको
फूल से भी हल्का
समझ लिया आपने
हत्या के पाप को
इन्दू जी, इन्दू जी क्या हुआ आपको
सत्ता की मस्ती में भूल गई बाप को।"

नागार्जुन का यह विद्रोही स्वभाव आज तक बना हुआ है। वे जहां कहीं भी कमी देखते हैं उनके व्यंग्य की तलवार लपलपाकर उसके ऊपर गिरती है। डॉ० विजयबहादुर सिंह ने उनकी इसी प्रवृत्ति पर कहा है—

"यह भी मजेदार है कि जब कांग्रेसी सरकार को नागार्जुन आड़े हाथों लेने लगते हैं तो वामपंथ और दक्षिणपंथ दोनों की बांछें खिल जाती है। किन्तु यही कवि जब

उनकी दबी-ढकी सीवन उधेड़ने लगता है तो उन्हें काफी उद्दण्ड और खतरनाक जान पड़ने लगता है।'''इसलिए कोई भी इससे खुश नहीं है न दक्षिणपंथ न वामपंथ। यह किसी का है ही नहीं।" (नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 36)

अपनी इसी फक्कड़ आदत पर उन्होंने जे०पी० के आन्दोलन को बाद में "मैं रण्डियों और भडुओं के कोठे पर पहुच गया था" कहकर लताड़ दिया था। इस तरह बाबा नागार्जुन की संपूर्ण जीवन यात्रा बड़ी संघर्षशील रही है। इस यात्रा का उनके जीवन और साहित्य में बड़ा योगदान है। उनकी समस्त रचनाएं चाहे वह गद्य हो अथवा पद्य सभी रास्ते के अनुभवों से प्रसूत हैं। अन्य लेखकों और रचनाकारों की तरह उनका साहित्य कॉफी-हाउस अथवा हिल स्टेशनों की नकली जमीन से पैदा नहीं हुआ है। इसी यथार्थ रुझान से उनका विद्रोह कहीं आक्रोश और कहीं व्यंग्य में बदलता रहता है। डॉ० नामवरसिंह ने उनकी इस प्रवृत्ति को बताते हुए लिखा है—

"नागार्जुन की यह वर्ग-प्रतिहिंसा कवि में व्यंग्यों के रूप में प्रकट हुई है: और बिना हिचक के कहा जा सकता है कि कबीर के बाद हिंदी में नागार्जुन से बड़ा दूसरा व्यंग्यकार पैदा ही नहीं हुआ।" (आलोचना, अंक 56-57, पृ० 2)

नागार्जुन प्रारम्भ में 'वैद्यनाथ' नाम से संस्कृत में लिखते थे। 'यात्री' नाम से मैथिली से हिंदी में आते समय उन्होंने कहा था—

"मैथिली मां है, मगर उससे पेट नहीं भरता। हिंदी से पेट भरता है इसीलिए उसे अपना कलेजा नोचकर चढ़ा देता हूं।" (जीवकांत—'सहर' नागार्जुन विशेषांक, नवम्बर 1970, पृ०, 36)

इस प्रकार नागार्जुन का पूरा साहित्य कविता और उपन्यास उनकी जीवन यात्राओं के अनुभवों से अटे पड़े हैं। निम्न वर्ग, किसान और मजदूर वर्ग उनके लेखन के नायक है। उत्पीड़ित और शोषित समाज उनका कथ्य है और अनुभवों की धार पर रखी हुई भाषा उनकी अपनी है।

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में विधवा समस्या, 'बलचनमा' में किसान और जमींदार आन्दोलन 'नई पौध' में अनमेल विवाह, 'बाबा बटेसरनाथ' में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और 'जमींदार उन्मूलन' में जमींदार और भूस्वामी की मिली-भगत से किसानों का शोषण, 'दुःख मोचन' में विधवा का अन्तर्जातीय विवाह, 'वरुण के बेटे' में निम्नवर्गीय मछेरों के जमींदार के खिलाफ संगठन और निम्नवर्गीय नारी सक्रिय भूमिका, 'कुंभीपाक' में असहाय महिलाओं की नाटकीय जीवन की दास्तान 'जमनिया का बाबा' में पण्डे पुजारियों के ढोंग, 'उग्रतारा' में गर्भवती विधवा का पुनर्विवाह, 'पारो' में अनमेल वर की कहानी तथा 'अभिनंदन' (हीरक जयंती का अभिनव प्रकाशन) में राजनेताओं की खुराफात-अवसरवादिता और उनकी संतानों के चाल-चलन का ब्योरा प्रस्तुत किया है।

कविता के क्षेत्र में तो उन्होंने सामाजिक चित्रण को बखूबी पेश किया है। समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश उनकी कविताओं में मुखर हो उठा है। 'युग धारा', 'सतरंगे पंखों वाली', 'प्यासी पथराई आंखें', 'खिचड़ी विप्लव देखा

हमने', 'हजार-हजार बांहों वाली' आदि अनेक कविताएं और संग्रह है। कुछ अप्राप्य रचनाएं भी नागार्जुन ने लिखी तो कुछ शासन का कोपभाजन बनकर इधर-उधर हो गई। नागार्जुन का कविता-बोध तात्कालिक समस्याओं पर होता है।

इस तरह नागार्जुन ने अपने जीवन में समाज की खुली किताब से सीखा। सामाजिक विसंगतियों से उनके मन मे विद्रोह और आक्रोश उभरा है, दलित और शोषित के प्रति उनके हृदय मे करुणा और दया का भाव जागृत हुआ है तो शोषक और अत्याचारी के प्रति उनके मन में घृणा और व्यंग्य ने जन्म लिया है। उन्होंने अपने नायक को अपने परिवार का बनाकर उसे वीरान जंगल में अथवा जैसा का तैसा नही छोडा उसे सहानुभूति दी, दिशा-निर्देश दिया है। इसी के लिए आज भी उनके कंधे पर एक अदद थैला लटका रहता है। बीमार होते हुए भी वे अपने इन निम्नवर्गीय शोषित और पीडित समाज के सदस्यों से मिलने के लिए यात्रा करते हैं।

नागार्जुन की वैचारिकता

स्वातंत्र्योत्तर भारत के गांवों की बोली—बनी पहनाव-उढाव, खान-पान, रहन-सहन, सोचने-समझने के तौर-तरीकों, कीचड़ और रपटीले रास्तों, भूखे और नगे लोगो पैसे के पीछे मरते और भगते बेईमानों, साप की तरह केचुली बदलते महानुभावो, देश-प्रेम का ढोंग करने वाले आदमी की शक्ल मे भेड़ियो, धर्म की आड़ में काम-पिपासा शान्त करने वाले पाखण्डियो-चुगलखोरों, अधिकार के लिए लडने-मरने वाले किसानो, मजदूरों, समाज से टक्कर लेती विधवाओं, जर्जर थोथी सामाजिक मान्यताओं को तोडते हुए नौजवानो, ढोंग और आडंबरों पर पलने वाले ब्राह्मणो, सूद दर सूद की लपेट मे घिसटते गरीबों, जमीदारों के शोषण से आजिज निरीह किसानों की पहली बार रंगीन तस्वीर नागार्जुन ने अपने उपन्यासो मे उतारी है। हिंदी साहित्य को यह उनकी अनुपम भेंट है। यह भेंट वैचारिक धरातल को सजाने के लिए नही बल्कि उसे चौकाने के लिए है जिसे हर बार देखकर नवीन वैचारिक उन्मेष होता है, समाज मे कुछ करने की प्रेरणा मिलती है। नागार्जुन ने अपनी इस तस्वीर को मिथिला और बिहार के अंचलो मे रंगा जरूर है परन्तु उसके तमाम रंग राष्ट्रीय रंग हैं। भारत का समूचा मानचित्र देहाती तस्वीर से स्पष्ट झलकता है।

नागार्जुन की उपन्यास यात्रा 1948 (रतिनाथ की चाची) से लेकर 1979 ('अभिनंदन' हीरक जयती का अभिनव संस्करण) तक है। उनके हिंदी में ग्यारह उपन्यास हैं। इस समूची उपन्यास यात्रा मे उनकी अपनी सहानुभूति दबे, पिसे, शोषित, दलित, कर्ज और गुलामी में डूबे सामान्य पात्रों के साथ रही है और उनके उपन्यासों के मुख्य नायक के रूप मे इन्ही वर्गों के पात्रों का चयन हुआ है। वे तिलमिला उठते हैं जब कभी उनके इन लड़ैते और कुनवैती पात्रों पर अत्याचार होने लगता है। और यही नही अपनी

साधारण और सरल शैली के माध्यम से अपने पात्रों की कहानी को ऐसा बना देते हैं कि पात्र पाठक का अपना बनता चला जाता है। साथ ही दृष्टव्य है कि नागार्जुन कर्ज और गुलामी से परेशान मजदूर, गरीब जनता के दुख-दर्द की बड़ी गहराई और गंभीरता से लेते हैं। उन्हें ज्ञात है कि गरीब और मजदूर की अस्मिता उनके खाली पेट से जुड़ी हुई है उसे भरने के लिए वह कितनी परिस्थितियों से गुजरता है कितने कष्ट और दबाव सहता है। यह वर्णनातीत है। पेट की विवशता उसे उसके जीवन के अन्त तक अंधेरी सामन्तों से टकराती चलती है।

नागार्जुन का सम्पूर्ण उपन्यास जगत गरीब और निरीह जनता के ऊपर होने वाले शोषण पर आधृत है उन्होंने अपने लेखन में अपने निजी अनुभव के आधार पर समाज की विसंगतियों का चित्रण किया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने किसी भी अपरिचित और कल्पित पात्र को कोई भी स्थान नहीं दिया और न ही उन्होंने कथानक में कल्पना के पंख फैलाकर अन्य विहगों की भांति उड़ान भरने की कोशिश की है—

"नागार्जुन ने अपने कथा साहित्य में जिस समाज का चित्रण किया है वह उनका देखा-भाला है। उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। गरीब चरवाहे से लेकर पैसों भेंट लेने वाले मंत्रिगण और पानी छूने से लेकर 'महन्थ जीवानंद' के ठाठ तक सबके वर्णन उनके कथा-साहित्य में सुलभ हैं।" (डॉ० प्रकाशचन्द्र भट्ट : नागार्जुन जीवन और साहित्य, 1974, पृ० 24)

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागार्जुन ने अपनी रचनाओं में बड़ी सूझ-बूझ के साथ अपने अनुभव को उकेरा है। अतः अध्ययन की सुविधा के लिए हम उनकी लेखकीय वैचारिकता को निम्नलिखित शीर्षकों में रख सकते हैं—

(क) यथार्थ चित्रण

नागार्जुन की समस्त औपन्यासिक कृतियां उनके देखे-भाले जीवन और समाज के ऊपर आधारित हैं। उपन्यासों में उन्होंने कथानक की प्रामाणिकता को यथार्थ के चित्रण के माध्यम से परिपुष्ट किया है। डॉ० रामदरश मिश्र ने उनके यथार्थवादी झुकाव की भूरि-भूरि सराहना की है—

"ये जन-सामान्य की आर्थिक विपन्नता, पीड़ा, अभाव, अपमान, संघर्ष को यथार्थवादी दृष्टि से उभारते हैं साथ-ही-साथ नयी चेतना के आलोक में बनते नए मूल्यों और संबंधों को भी उभारते हैं। लेखक पुराने सम्बन्धों, मूल्यों और स्थितियों की विभीषिका का चित्रण करता हुआ सर्वत्र उसमें उभरती दरारों को अनावृत करता है तथा नए क्षितिजों की ओर संकेत करता है।" (डॉ० रामदरश मिश्र : हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा 1968, पृ० 194)

वास्तव में नागार्जुन की कला वर्णन के क्षेत्र में अद्वितीय है। उन्होंने ग्रामीण समाज के हर वर्ग के, हर जाति के और हर व्यवसाय के साथ चलने वाले दैनिक व्यापारों को वास्तविक रूप में लिया है। उनके उपन्यासों में हमें कहीं भी अतिशयता और भावुक बहाव के दर्शन नहीं मिलते। उन्होंने वस्तुस्थिति का चित्रण बिना किसी लाग-लपेट के

प्रस्तुत किया है। उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण मे किसान, जमीदार, राजनेता, गरीब, मजदूर, विधयाएं और संघर्ष करने वाले नवयुवक है जो कि अपनी प्राकृतिक भूमिका में कृतियों में स्थान रखते हैं।

नागार्जुन ने बड़े घरों के महलों को देखा है। परन्तु गरीब की झोंपड़ी से उनका रिश्ता स्थायी है। गरीबी कैसी होती है उसके कारण घर की आवासीय स्थिति में कैसी फिजा बन जाती है 'वरुण के बेटे' मे खुरखुन की पारिवारिक स्थिति उदाहरण स्वरूप देखी जा सकती है जहा कि नागार्जुन ने गरीबी का चूल्हा और चौका भी देखा है।

"पुआल बिछे थे कोने मे, उन पर फटी-पुरानी बोरी बिछा थी एक जवान लड़की और नंग-धड़ग बच्चे बेतरतीब सोए पड़े थे। ओढ़ना के नाम पर कथरी गुदड़ी के दो-तीन छोटे-बडे टुकड़े उन शरीरों को जहा-तहां से ढक रहे थे। दूसरे कोने मे चूल्हा-चौका। तीसरे मे अनाज रखने के कूड़ और कुठले। चौथा कोना खाली। छप्पर के बासों से दसियों छिक्के लटक रहे थे। मछलियां पकड़ने और फंसाने के औजार भीत की खूटियों से टगे थे—गोंजटापी, सहत, सरेला किस्म-किस्म के डंडे। जालों की कढाई-बुनाई मे काम आने वाले छोटे-बड़े सूए शलाखें। जालों के अधूरे टुकड़े। घर-गिरस्ती की बाकी दसियों चीजें। यानी खुरखुन का समूचा ससार ही माना तेरह फुट लम्बे नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था। भीतें बीस साल पुरानी, फिर भी मजबूत थी।" (द्वितीय सस्करण: 1975; पृ० 11-12)

आजकल के चारण वृत्ति वाले तथाकथित बुद्धिजीवी और पत्रकार मंत्रियों और शासनाधीशो के पीछे-पीछे दुम हिलाते फिरते हैं। अपने सिद्धान्तों और कर्त्तव्यबोध को ठुकराकर वे 'अहोरूपं अहोध्वनि' वाली परम्परा को जीवित बनाए हुए हैं। नागार्जुन ने ऐसे लेखकों के मंत्रियों से चिपकने, उनके अभिनन्दन ग्रन्थ छापने, हीरक जयती मनाने के मनसूबे को अपने उपन्यास 'अभिनंदन' ('हीरक जयंती' का अभिनव प्रकाशन) मे यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उसका कथ्य बेहद प्रामाणिक है। अतः वे उन तमाम भोगे हुए जीवन के अशों को अपनी कला का आधार बनाते है जिनके बारे में उन्हे पूरी जानकारी है। वे इस संदर्भ मे कबीर के अनुज माने जाए तो अत्युक्ति न होगी। डॉ० विजय बहादुर सिंह ने उनकी इसी यथार्थवादी चेतना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"वे प्राय: उन्ही अनुभव खण्डों को लेते हैं जिनके बारे मे उनकी जानकारी बहुत गहरी है। इसलिए गांव और शहरो का निम्न मध्यमवर्गीय जीवन ही वे कच्चे माल के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। पढ़ी और सुनी हुई दुनिया पर उनका भरोसा कतई नही है। वे देखी हुई दुनिया के लेखक हैं।" (नागार्जुन और उनका रचना ससार, 1982 पृ० 82)

स्वभाव से ही घुमतू और फक्कड़ और यथार्थ की भूमिका में जीने वाले बाबा ने देश-देहात की जन-सामान्य से लेकर जन-विशेष की सामाजिकता को बड़ी निकटता से देखा है। वे अपनी प्रतिभा के धनी हैं। उनकी पैनी नजर से सामान्य-सी चीजें भी ओझल नहीं हो पाती। उन्होने प्रत्येक वर्ग की अन्दरूनी प्रवृत्ति को पहचाना है।

नागार्जुन को राजनीति का गहरा अनुभव है। वे राजनेताओं की रग-रग से परिचित

है। स्वय को भी समाजवादी चेतना के साथ जुड़े होने के कारण राजनीतिक जगत को खुल कर देखने और पहचानने का मौका मिला है। वे राजनेताओं की देशभक्ति की रामनामी चादर से भी परिचित हैं। और उनकी अपने परिवार की कल्याणकारी योजनाओं से भी। उन्होंने नेताओ द्वारा सामान्य जनता को दी जाने वाली ओष्ठ्य सहानुभूति भी देखी है और उनके गला काटने वाले हथियार भी। सरकार की ओर से आम जनता को दी जाने वाली राहत में इनका कुछ प्रतिशत शेयर भी सुरक्षित है और देश के तथाकथित संचालक होने के कारण वी० आई० पी० का खिताब भी इन राजनेताओ ने अख्तियार कर लिया है। इसे उन्होंने अपने उपन्यासो में भी बड़ी गहराई से चित्रित किया है। काव्य-जगत मे तो वे अग्रणी हैं। उदाहरण के लिए 'बलचनमा' में रिलीफ फण्ड के वितरण की राजनीतिक धांधलेबाजी फूलबाबू के माध्यम से देखी जा सकती है जिसका गवाह बलचनमा है—

"रिलीफ फण्ड की ओर से भगवान जाने कितनी रकम एक गांव के लिए उन्हे मिली थी। लेकिन कुछ दिनो बाद मुशीजी के लड़के से जो मुझे मालूम हुआ वही तुम्हे बता देता हूं। इससे तुम्हें इतना अंदाज जरूर होगा कि लाखों की वह रकम लोगो में किस तरह बंटी होगी। लो सुन लो भइया—

बबुअन पाठक के नाम पर	60 रु०	की रकम लिखी थी	30 रु०	मिले
दामो ठाकुर "	40	"	20	"
मोसम्मात जानकी "	30	"	15	"
तारानन्द झा "	30	"	15	"
खो खाई मिसर "	25	"	10	"
चतुरानन चौधरी "	40	"	20	"
पचकौड़ी झा "	25	"	10	"
जैबल्लभ मलिक "	25	"	10	"
बमभोले झा "	25	"	10	"
बचबे मिसर "	25	"	10	"
मनियार गोप "	25	"	8	"
झकोड़ी गोप "	25	"	8	"
कपिलेसर मड़र "	25	"	8	"
सीरी अमात "	20	"	6	"
कल्लर केवट "	20	"	6	"
मुसम्मात कुंती "	15	"	3	"
वहू चमार "	15	"	3	"
शेखअब्दुल "	25	"	8	"
करीम बक्श "	15	"	3	"
मोसम्मात हमीदा "	15	"	3	"

समझा भैया, बीस आदमियो के नाम सवा पाच सौ रुपये की खैरात लिखी गई

लेकिन लोगों को मिले सिरफ दो सौ छह रुपये।" (पृष्ठ 154-55)

यह मात्र एक नेता के साथ घटने वाली घटना नहीं है यह सत्ताधारी सियारों की परम्परा आज तक चली आ रही है। उनके द्वारा स्वयं ही इस तरह के भ्रष्ट आचरणों को शरण मिलती है। नागार्जुन की राजनीतिक समझ इस सम्बन्ध में बड़ी पक्की है। आज के मंत्री और मुख्यमंत्री किस तरह अपनी संपत्ति बढ़ाने में लगे हैं कितने प्रेम और बेझिझक वे अपनी सत्ता का प्रयोग परिवार के सुख के लिए करते है। यह दैनिक समाचार पत्रों में दिखाई पड़ता है।

यह तो रही राजनेताओं की खुद की बात। नागार्जुन इनके सुपुत्रों के चरित्रों को भी अच्छी तरह पहचानते हैं। तस्करी करना, डकैती डालना, लड़कियां उठाना, रिश्वत लेना, चंदे के नाम पर लाखों की रकम ऐंठना इन कुलदीपों की बचपनी आदत है। जब इन आदतों को नेक और ईमानदार कर्मचारी, अधिकारी पकड़ लेते हैं तो या तो वे गरीब किसी ऐसी जगह या ऐसे विभाग में स्थानांतरित कर दिए जाते हैं कि वे फिर कभी उनके रास्ते में न आयें अथवा उन्हें डरा-धमकाकर तथ्यों में उलट-फेर करवाई जाती है। 'अभिनन्दन' के माल मंत्री श्री नरपत बाबू अपने बेटे को नेपाल सीमा पर तस्करी करते हुए एक्साइज अधिकारी मि० सेन द्वारा पकड़ लिये जाने की खबर को अखबार में छपा देखकर चिंतित है और अपने पर्सनल सेक्रेटरी से कहते हैं—

"नगेन्दर चार घन्टे से पुलिस कस्टडी में है। आवकारी विभाग के अधिकारियों ने उसकी ट्रक जोग बनी में रोक रखी है। कहते है, ऊपर बीस मन तम्बाकू के पत्ते थे नीचे पचास मन गाजा''' इस लड़के ने तो मुझे भारी संकट में डाल दिया है, दयाल बाबू।" (पृ० 129) इस तस्करी को फोन पर डांटकर किस तरह साधारण माल में बदला जाता है यह भी दृष्टव्य है—

"हलो''' हलो''' ट्रंक। हल्लो''' हां, मैं रैवेन्यू मिनिस्टर का प्राइवेट सेक्रेटरी''' हां आप कौन ''? मिस्टर सेन? एक्साइज सुपरिन्टेंडेंट?''' हलो''' हलो ट्रंक कनेक्शन अभी तोड़िए नहीं''' हां मिस्टर सेन? हमारे पास इस बात का पक्का सबूत है कि इस ट्रक में तम्बाकू थी गांजा नहीं था। उसमें नहीं बिल्कुल नहीं साब! ट्रक में गांजे की एक भी कली नहीं''' आप लोगों को धोखा हुआ है मिस्टर सेन'''।" (पृ० 129-30) और बिचारे मिस्टर सेन पर उसके वरिष्ठ अधिकारी की डांट पड़ती है कि वह निन्दनीय कार्य कर रहा है। इसलिए उसे शीघ्र ही उस चहेते बेटे के ट्रक को छोड़ कर मंत्री का कृपा पात्र बनने का सर्टीफिकेट लेना चाहिए और हुआ यही कि—

"अपने आका की डांट-डपट खाकर बेचारे मिस्टर सेन को मान लेना पड़ा कि ट्रक में तम्बाकू ही थी, गांजा नहीं था' और नगेन्द्रनारायण सिंह रात को साढ़े बारह बजे पुलिस की हाजत से छुटकारा पा गए। उनकी ट्रक सही-सलामत नेपाल-भारत सीमा के इस पार आ पहुंची।" (वही, पृ० 130)

यह रही एक मंत्री के घर की घटना। आपातकाल के दौरान से युवा वर्ग के नाम पर इन मंत्री-पुत्रों ने पूरे हिन्दुस्तान में तहलका मचा रखा है, वे शासन का अंग न होते हुए भी प्रशासन को अपनी उंगली पर नचाते हैं। अधिकारियों को डरा-धमकाकर

नाजायज परमिट, लायसेंस आदि लेकर अपने मन के सभी शौक पूरे करते रहते हैं। नागार्जुन की इन पर पूरी नजर है।

नागार्जुन ने सामाजिक विद्रूपताओं का वर्णन भी बड़ी कुशलता के साथ किया है। वे अनमेल विवाह, दहेज और बिकौआवर जैसी थोथी मान्यताओं की वास्तविक कमजोरियों को समझते हैं। इन ओछी परम्पराओं में संलग्न उन तमाम ढोंगियों की उन्होंने कलई खोली है जो इस कार्य को व्यवसाय के रूप में करते चले आ रहे हैं। नारी के शरीर का व्यवसाय करने वाली चंदा बुआ पर कच्ची उमर की लड़की भुवन 'कुंभीपाक' में अपनी जिन्दगी का यथार्थ प्रस्तुत करती है—

"तीन-चार मामूली साड़ियां, दो ब्लाउज, रोल्ड गोल्ड के ईयररिंग और'''बुआ मुझे ठगती है'''यह औरत सौ चुड़ैलों की एक चुड़ैल है। जाने कितनी छोकरियों का कीमा बनाया होगा। मुझे भी तल-भुनकर खा जायेगी। हम क्या हैं? रकम बनाने की फैक्टरी के कलपुर्जे हैं। देखे तो आके कोई, ममता का कुआं बनकर कैसे हमदर्दी उड़ेल रही है इस वक्त—" (द्वितीय संस्करण, पृ० 32)

भुवन द्वारा अपने को पैसे बनाने वाली फैक्टरी के कल-पुर्जे बताना यह उस जगत का जीवित यथार्थ है जहां स्त्रियों के शरीर की अनदेखे और अनचाहे लोगों के लिए नीलामी होती है। भुवन जैसी न जाने कितनी किशोरियां अपने कौमार्य को पैसे के लिए मौन होकर लुटाती हैं। होटलों, डाक-बंगलों, मेहमानों की दावतों में कैबरे नृत्य आदि में ऐसी ही बेबस और अर्थाभाव वाली महिलाएँ दिन-रात देखी जा सकती हैं। इसी तरह की आत्माभिव्यक्ति अनमेल विवाह पर 'पारो' उपन्यास की किशोरी नायिका करती है। अपने से उम्र में तीन गुने वृद्ध व्यक्ति के साथ उसकी विधवा मां को असहाय समझकर समाज के ठेकेदार उसे विवाहित कर देते हैं। भावुकता में पारो अपनी सुहागरात का दृश्य प्रस्तुत करती है—

"चतुर्थी की रात में दस रुपये के दस नोट मेरे आगे फैलाते हुए उन्होंने कहा था—और चाहिए तो वैसा कहिए? क्रोध से मैं जलने लगी। हे भगवान! दंड दे मगर फिर औरत बनकर इस देश में जन्म नहीं दे—दीआ। पैंतालीस वर्षों का नर-पिशाच एक अबोध लड़की के सामने दस रुपयों के नोट का पथार इसलिए लगावे कि—।" (प्रथम संस्करण, पृ० 50)

नागार्जुन ने अर्थाभाव में बाल-मजदूरी पर 'बलचनमा' उपन्यास में यथार्थपरक दृष्टिकोण में विस्तार से चर्चा की है जो समय सापेक्ष है। अर्थाभाव के कारण छोटे-छोटे बच्चों के मां-बाप अपनी कच्ची उम्र की सन्तान को जिनके कि खाने और खेलने के दिन हैं मजबूरी में रुपए, दो रुपए रोज में काम पर लगा देते हैं। नागार्जुन ने बलचनमा के बाल-मजदूर को बड़ी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। यह माना कि बलचनमा कम उम्र का कच्चा बालक है। अभी उसके खाने-खेलने के दिन हैं परन्तु गरीबी और अर्थाभाव उससे हाड़तोड़ मेहनत करवाने के लिए निरन्तर दबाव डाल रहे हैं। उसकी नाबालिगी भुखमरी और असहायता के वातावरण में बालिगी बन जाती है। चौदह वर्ष के उस बालक को एक पूरे मजदूर के रूप में ढालने का प्रयास आधुनिक आवश्यकता बनकर मजदूर के

जीवन की वास्तविकता को उजागर कर रहा है ।

"उसके बाद दादी और मां की राय हुई कि मैं मालिको की किसी पट्टी मे चरवाहे का काम करूं। दादी ने मना किया था । अभी खाने-खेलने के दिन है इसी समय जोत दोगी तो *कलेजा सूख जाएगा, इस पर मां बोली थी कि अभी से पेट की फिकर नहीं* करेगा तो बहतम (आवारा) हो जायेगा ।" (पृ० 4)

वास्तव मे मजदूर की जिन्दगी का यही सबसे बड़ा यथार्थ है । दो-जून की रोटी के लिए अपने शरीर को चाहे वह कच्चा हो अथवा पक्का मालिक के नैतिक और अनैतिक काम के लिए हाजिर रखना उसकी मजबूरी है। यह यथार्थ अकेले बलचनमा का ही नहीं आज यह रोग असाध्य रूप मे शहरो और कस्बो मे खूब पाया जाता है । छोटे-छोटे बच्चे जो कि अभी कपड़े तक ढग से पहनना-बाधना तक नहीं जानते परन्तु उनके मां-बाप उन्हें मजदूरी कराने को बाध्य हो जाते है । होटलों मे बर्तन साफ करना, व्यापारियों की दुकान पर इधर से उधर बोझा ढोना, रिक्शा चलाना, सड़क पर मरम्मत का काम करना अब उनकी रोजी-रोटी के लिए अनिवार्य हो गया है । सुबह से शहर और कस्बों के चौराहों पर जहा मजदूर मजदूरी करने के लिए इकट्ठे होते है इन अबोध बच्चो को भी उनके साथ खड़े देखा जा सकता है जिन्हें मालिक लोग आधी-पौनी मजदूरी मे बड़े रिरियाने पर कबूलते है ।

धर्म मठों में होने वाले अमानवीय व्यवहारो की भी नागार्जुन ने निगरानी की है । धर्म की आड़ लेकर ढोंगी और आडम्बरी लोग अशिक्षित और भोली-भाली जनता को भटकाते हैं । धर्म के नाम पर नैतिक और अनैतिक व्यापार देवालयों मे खुले आम देखने को आज मिल रहे हैं । बीसवी शताब्दी में जहां विज्ञान ने प्राकृतिक सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं वहीं ये अखाड़े आज समाज को अन्धविश्वासों में धकेले जा रहे हैं । नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'जमनिया का बाबा' मे ऐसे ही 'भ्रष्ट मठाधीश' का चित्रण किया है ।

वास्तव में नागार्जुन ने समाज के बहुविस्तृत आयामो को देखा है परन्तु बाबा नागार्जुन की यह विशेषता रही कि उसमें उन्होने चेतना के अंकुर उगाए है, उसे एक दिशा दी है—

"नागार्जुन भारतीय समाज के उन यथार्थवादी लेखकों में से है जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दुर्बलताओं और बदनीयतों के साथ-साथ धार्मिक पाखण्डो को भी मद्देनजर रखते हैं । धर्म और राजनीति के ढोंग जहां मिलकर खतरनाक होते हैं वे उसे भी उधेड़ते हैं। इस प्रकार की प्रचार-धर्मिता लेखन के लिए धर्मवत्त है यहीं पहुंचकर लेखन सामाजिक परिवर्तन का एक कारगर हथियार बन पाता है ।" (डॉ० विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन और उनका रचना संसार, 1982, पृ० 83-84)

इस प्रकार यह साफ जाहिर है कि नागार्जुन ने अपनी कृतियो मे विस्तार से यथार्थ चित्रण किया है । समाज, गरीबी, मजदूरी, मजबूरी, धर्म, राजनीति आदि का वास्तविक रूप हमे उनकी कृतियों में देखने को मिलता है। नागार्जुन उन सच्चे लेखकों मे है जो स्वय अपने लेखन के साथ प्रतिबद्ध है । उनके व्यक्ति और रचनाकार मे एकरूपता ही उनके यथार्थवादी चिन्तन की जननी है ।

(ख) नारी-समाज का उत्थान

नागार्जुन का नारी-समाज के प्रति मानवीय दृष्टिकोण रहा है। वे नारी-समाज पर होने वाले अत्याचार और शोषण के प्रति घोर विरोधी रहे हैं। उनकी दृष्टि में नारी आधुनिक समाज के उत्थान का अनिवार्य घटक है उसकी अनुपस्थिति में वे समाज के विकास को एकांगी और अधूरा मानते हैं। अतः उन्होंने अपने उपन्यासों में ऐसे स्त्री पात्रों को लिया है जिससे समाज का स्वस्थ विकास हो सके। नारी-जीवन में घटने वाली तमाम घटनाओं विधवा, बालविवाह, अनमेल विवाह, बिकौआवर, होटलों, पार्टियों में नारी का शरीर प्रदर्शन, आदि को नागार्जुन ने आर्थिक तंगी के साथ-साथ समाज की थोथी मान्यताओं का कारण माना है। इसीलिए वे अपने उपन्यासों में इन तमाम विद्रूपताओं को प्रदर्शित करते हुए उनके निराकरण की एक दिशा 'आधुनिक नारी' की भूमिका में देते हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि शिक्षा और आर्थिक स्वावलंबन नारी के जीवन को ऊंचा उठा सकता है। अतः उनकी स्त्रियां चेतना-सम्पन्न हैं। अनपढ़ होते हुए भी उनमें एक मार्दव है। वे सीना खोलकर समाज से टक्कर लेती हैं। मानव समाज के चरणों पर उसे पति मानकर उसकी पंगु नैतिकता में घुट-घुटकर उन्हें जीवन बिताना स्वीकार नहीं है। लेनिन ने कहा भी था—"सभी मुक्ति आंदोलनों के अनुभवों से यह देखा गया है कि किसी क्रांति की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि उसमें औरतें किस हद तक भाग लेती हैं।" (नारी मुक्ति, 1972, पृ० 43)

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में नारी-चेतना के विविध सोपानों को खोला है। उन्होंने अनमेल विवाह के कारण जिनमें दस-दस, पंद्रह-पंद्रह वर्ष की लड़कियों का विवाह पचास-पचास, साठ-साठ और सत्तर-सत्तर वर्ष के बुड्ढों के साथ जो कि उनसे उम्र में ठीक चार-चार पांच-पांच गुने बड़े होते हैं और देखने पर पति की जगह पर पिता सदृश होते हैं, वैधव्य को कई कोणों से छुआ है। नागार्जुन विधवा नारी के पुनर्विवाह के पक्षपाती रहे हैं। वे जानते हैं कि असहाय विधवा जिसके पास कोई साधन नहीं है वह समाज की चारदीवारी में घुट-घुटकर दम तोड़ती है। थोथी मान्यताएं उसके पैरों में बेड़ी डालकर उसके समूचे अस्तित्व को मिटा देती हैं। वैधव्य एक अभिशाप है। उनकी नारियां उससे बचने के लिए पुनर्विवाह करती हैं। 'अभिनन्दन' उपन्यास में मा मंत्री बाबू नरपत सिंह की छब्बीस साला बेटी जोकि बाल-विधवा हो गई थी समाज की थोथी मान्यताओं को ठुकराती हुई स्वयं निर्णय लेकर अपने इन्टर क्लास के पुराने सहपाठी के साथ चली भी जाती है।

नागार्जुन ने इस तरह के विवाह तो उन विधवाओं के कराए हैं जो बाल-विधवाएं हैं और निःसन्तान हैं। उन्होंने नारी-समाज में इससे आगे और बढ़कर क्रांतिकारी कदम रखा है जबकि विधवा उग्रतारा का विवाह गर्भवती होते हुए भी उसके मनचाहे वर कामेश्वर से कराया है। इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए उन्होंने रूढ़िग्रस्त समाज की महिला का सहारा न लेकर एक चेतना-सम्पन्न महिला कामेश्वर की भाभी को लिया है जोकि उग्रतारा और कामेश्वर के विवाह को प्रसन्नता के साथ सम्पन्न कराती है। नागार्जुन की पूरी-पूरी सहानुभूति इन बेबस महिलाओं के साथ है वे विधवा नारी को

सामाजिक सम्मान दिलाने के प्रबल समर्थक हैं। डॉ० प्रकाशचन्द्र भट्ट ने नागार्जुन के इसी रुझान पर लिखा है—

"स्पष्ट है कि लेखक विधवा को विवाहित देखना चाहता है। साथ ही लेखक इन पीड़ित नारियों को पूर्ण पवित्र मानता है।" (नागार्जुन जीवन और साहित्य, पृ० 250)

नागार्जुन के नारी पात्र घर की चारदीवारी में घिरकर मनुष्य के मुहताज नहीं हैं। वे पुरुष समाज से किसी कीमत में कम नहीं है। जितनी कार्य क्षमता पुरुष में होती है उतनी ही नागार्जुन के ये स्त्रीपात्र कर दिखाते हैं। वे समाज-सुधार से लेकर राजनीति तक में बेझिझक समाज की जर्जर रुढ़ियों को तोड़ते हुए प्रवेश करती हैं! नागार्जुन के नारी पात्रों की राजनीति के क्षेत्र में भी सक्रिय भूमिका रही है। 'वरुण के बेटे' की माधुरी ने आधुनिक नारी की भूमिका में सामाजिक और राजनीतिक परिवेश को नयी चुनौती दी है। वह पति-धर्म की उस आदर्शवादिता को लतिया देती है जिसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि "स्त्री के लिए पति कैसा ही हो परमेश्वर होता है।" वह ससुराल में होने वाले जुल्म को बर्दाश्त नहीं करती और अपने पिता के घर चली आती है। अब माधुरी समाज को अपने जूते की नोक पर रखती है। वह अकेली रहकर अपने पिता खुरखुन का हाथ बटाती है और मेहनत-मजदूरी करके अपने पिता के साथ परिवार का निर्वाह करती है। माधुरी के हृदय में नारी-सुलभ व्यावहारिकता है। वह समाज-सेवा के लिए भी दिन-रात काम करने में संकोच नहीं करती—

"ऐसा लगता था कि खुरखुन के लिए वह लड़की नहीं है लड़का है। खाचे में मछलियां लेकर अब वह पड़ोस के गांवों में बेच आती थी। देपुरा जाकर दवादारू और सौदा-बाड़ी ले आती थी। बाढ़-पीड़ितों के लिए रिलीफ का काम शुरू हुआ तो वह गढ़पोखर के सहायता-शिविरों में डट गई और इससे बाप को बेहद खुशी हुई।" (पृ० 87)

नागार्जुन ने नारी-समाज पर अपने सिद्धान्त को कहीं भी आरोपित नहीं किया है। उन्होंने नारी-वर्ग में से ही नारी-समाज पर होने वाले अत्याचारों पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं। 'रतिनाथ की चाची' में गौरी चाची की माँ विधवा के अनैतिक गर्भ का संकेत करती हुई विधवा समाज की विद्रूपता पर प्रकाश डालती है—

"कोई क्या कर लेगा हमारा? बिटिया को मैं ब्याज की तरह जमीन के अन्दर दबाकर नहीं रख सकती इसके चलते जो कुछ हो। जिस समाज में हजारों की तादाद में जवान विधवाएँ रहेंगी वहाँ यही सब तो होगा।" (संस्करण वर्ष 1977, पृ० 30)

इन सब कारणों के पीछे नागार्जुन ने अशिक्षा को बहुत बड़ी भूमिका माना है। वे आधुनिक समाज में नारियों के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं। पढ़-लिखकर स्त्री अपने पैरों पर स्वयं खड़ी होती है उसमें एक आत्म-सम्मान और आत्म-निर्भरता अपने आप पैदा होती है। वे समाज में नारी को पढ़ा-लिखा देखना चाहते हैं 'बलचनमा' में वे संकेत भी देते हैं कि—"जब लड़कियां भी लड़कों की तरह पढ़ी-लिखी होने लगेंगी तभी इस मुल्क का उद्धार होगा।" नागार्जुन ने नारी के बारे में नवीन दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने समाज को आगे बढ़ाने में इस वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की है। नारी उनके लिए, मां, बहिन, साथी और दिशादर्शिका है। वह मात्र

काम-पिपासा को शान्त करने की निर्झरिणी नही। नागार्जुन नारी के सामाजिक सम्मान के प्रति सजग है। नारी-समाज पर होने वाला जुल्म उन्हे सह्य नही है। वे अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए अपने इन पात्रों को क्रान्ति की भूमिका मे प्रस्तुत करते है।

(ग) शोषित वर्ग के प्रति संवेदना

नागार्जुन का लेखन उन लाखों लाख गरीब, बेपढ़े, भूखे-नगे, भूमिहीन मजदूर, कर्ज मे डूबे हुए किसानो का लेखन है जो दिन-रात जाड़े-गर्मी-बरसात मे मेहनत मे डूबे हुए है परन्तु जिन्हे पेट भरने की रोटी और तन ढकने को कपड़े की कत्तल तक मुहैया नही होती। अपना और अपने बच्चो का पेट काट-काट कर जमीदार और साहूकार का कर्ज चुकाने मे ही जिनकी जिन्दगी समाप्त हो जाती है। अच्छी चीज खाने के नाम पर सदैव उन्हे मालिक लोगों की जूठन मिलती है। दो-दो पैसे के लिए जिन्हें हर समय मालिक लोगों के घर पर हाथ फैलाकर खड़ा रहना पड़ता है। बार-बार मालिक की झिड़कियां और लात-घूसा खाकर जिनका जीवन आगे बढ़ता है। नागार्जुन ने यह सब खड़े होकर देखा है। प्रकाशचंद्र भट्ट ने कहा भी है—

"पीड़ितों और शोषितो के प्रति संवेदनशीलता इनकी विचारधारा का प्रधान अग है। वे निम्नवर्ग के शोषण से क्षुब्ध है। जमीदारो के अत्याचार और अनाचारो का चित्रण करते समय मजदूरो और किसानो के प्रति हार्दिक सहानुभूति उन्होने व्यक्त की है।" (नागार्जुन जीवन और साहित्य, पृ० 247)

नागार्जुन ने गरीबी, शोषण और निम्नवर्ग की सामाजिकता का चित्रण 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ,' 'वरुण के बेटे', 'दुखमोचन' में बड़े विस्तार से सजीवता के साथ किया है। नागार्जुन ने स्पष्ट किया है कि देहाती जीवन मे हाथ-पैर की मेहनत खोर-खेती से मजदूर और किसानो की किस्मत जुडी हुई है। उनके सारे कार्य-व्यापार 'भूमि' पर फसल से साथ जुड़े रहते है। गाव का मुख्य व्यवसाय खेती होता है इसलिए मजदूर से लेकर किसान और सूदखोर महाजन से लेकर सर्वहारा तक की आशा की निगाहे धरती मा पर टिकी रहती हैं।"

नागार्जुन के शोषित पात्र निम्न वर्ग और मध्यम वर्ग दोनों ही वर्गों के हैं। उन्होने शोषण की चक्की मे पिसने वाले व्यक्ति की तस्वीर अपनी कृतियों मे प्रस्तुत की है जाति विशेष की नही। वह शोषण और अन्याय के किसी भी स्तर पर पक्षधर नहीं हैं। 'बलचनमा' मे गरीबिन विधवा ब्राह्मणी फूदन मिसर की विधवा मझले मालिक की गिरहस्थनी की चक्की मे पिस रही है नागार्जुन उसे भी सामने रखते हैं। वह विधवा, मालकिन के कम तौलने और ज्यादा वसूलने पर बिलबिला कर 'बदले हुए बटखरे' का सकेत देती है।

इस तरह नागार्जुन ने समाज के उन दबे-पिसे लोगों एवं वर्गों को लिया है जो दिन-प्रतिदिन अभाव और तगी में जीवन-यापन कर रहे हैं। वे अपने लेखकीय ससार मे इन सभी को साथ लेकर उनकी समस्याओं मे जूझ रहे हैं।

(घ) प्रगतिशील चिन्तन

नागार्जुन असमान समाज के ध्वंसक है। वे अत्याचार और शोषण को मानवता मे लगा हुआ घुन कह कर पुकारते हैं इसलिए वे गरीब और मूक जनता के लेखक, ग्राम कवि, सर्वहारा के हिमायती-मार्क्सवादी आदि विशेषणों से वे हिन्दी-जगत मे जाने जाते हैं।

वास्तव में नागार्जुन की कृतियों में अभिव्यक्त चेतना प्रगतिशील चिन्तन का परिणाम हैं। वे मानव समाज पर मानव द्वारा किये गए जुल्म को समाप्त करने मे अपने लेखन की धार को निरंतर पैनी करते रहते है। सामाजिक असमानता उनके हृदय मे फांस की तरह हर समय करकती रहती है—

"घर-परिवार, समाज और देश की जो समस्याए आम जनता को साल रही है मसलन गरीबी, भुखमरी, जमीनों का हड़प लिया जाना, अनमेल विवाह, छोटी जातियो के प्रति बड़ी जातियों की शोषणमुखी चतुराइयां, शूद्रो और स्त्रियो की दयनीय सामाजिक स्थिति, हिन्दुस्तानी जनता के अंधविश्वास और उनकी आड मे पनपते ढोंगी साधु-महात्मागण, अनाथाश्रमों के रूप मे चलते हुए भ्रष्टाचार के अड्डे, नेताओ की स्वार्थ-परायणता और उच्च वर्ग के हितों का संरक्षण, नकली समाजवाद, चितकबरा विकास, भ्रष्ट और पतनोन्मुखी गांधीवाद, जन-विरोधी बुद्धि-चातुर्य आदि न जाने कितनी ऐसी बातें हैं जो सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि वाले साहित्यकार के लिए विचारणीय हैं। एक सच्चे देश-प्रेमी लेखक के लिए ये बाते कितनी पीडादायक है, इसे पढकर ही जाना जा सकता है। उनके जीवन अनुभव का यही यथार्थ है जो बार-बार उन्हे कलम थामे रहने को मजबूर करता है।" (डॉ० विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन का रचना ससार, पृ० 81-82)

नागार्जुन का साहित्य लम्बे अनुभव और गभीर चिन्तन का परिणाम है। उनकी राजनीतिक और सामाजिक समझ बड़ी पैनी है। वे गांव और देहात के पक्षधर लेखक है। इसलिए उनकी कृतियां अति साधारण है। उन्होने सामान्य से विशेष की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी इस साधारणता मे कर्ज और गुलामी से जूझने वाले नागरिक हैं जोकि परिवेश और परिस्थितियों को जीते हुए मर रहे है, मरते हुए भी उठ रहे हैं। 'मधुरेश' का यह कथन उनके इसी रुझान का सकेत है—

"नागार्जुन की सबसे बड़ी उपलब्धि ही यह है कि उन्होने साधारण जनता के अति साधारण परिवेश मे से ही संघर्ष के मुद्दों की तलाश की। और उसमे उस क्रान्तिकारी चेतना की ज्योति जगाई जिसका इस पूरे दौर के साहित्य में बडा करुण प्रभाव दिखाई देता है।" (आलोचना, नवांक-22, 1977, पृ० 54)

नागार्जुन की इस साधारणता के कला क्षेत्र बिहार अंचल के रामपुरा, बरहमपुरा सितल पट्टी, मलाही गोढयारी, शुभंकर पुर, तरकुलवा, रूप उली, सुन्दरपुर मढ़िया आदि हैं जो कि उनके कथानायकों के चेतना केंद्र रहे है। इन गांवो में कही कर्ज पर गुलामी से पिसते मजदूर हैं तो कही दौलत की भूख मिटाने वाले लपकोर जमींदार हैं। कही राजनीति को आमदनी का जरिया बनाने वाले जन नेता है तो कही

आदर्शवाद और नैतिकता की थोथी जजीरो मे कसी बीमियों विधवाए अपने भाग्य को कोस रही है। अत- इन सब घटित व्यापारो को उन्होंने एक सवेदनशील रचनाकार होने के नाते बड़े विस्तार मे लिया है। इसी सवेदना के कारण उनके पात्र पाठक के बहुत अधिक निकट आ जाते है। और 'बलचनमा' मे तो यह संवेदनात्मक नैकट्य इतना है कि नायक पाठक की कसम खा-खाकर अपनी कहानी कहने लगता है—

"शाही फकीरों की लीला अपरम्पार होती है। यह औढर तुम पर अगर ढर जाएं तो कमम तुम्हारी एकैस पुरखा का उद्धार कर देगे।" (पृ० 107) अपनी इसी सवेदनशीलता के कारण वे विशाल कवि हृदय भी है। आनंदप्रकाश ने उनकी इन संवेदनशीलता पर टिप्पणी करते हुए कहा है—

"लेखन मे जितना राजनीतिक और समाज-सापेक्ष होना संभव है, नागार्जुन ने उस सीमा विन्दु को बार-बार छुआ है। इसके अतिरिक्त वर्तमान दौर की जनवादी राजनीति के विभिन्न स्तरो की परस्पर टकराहट को भी एक संवेदनशील रचनाकार की भाति उन्होंने अपने लेखन के विभिन्न स्तरो पर निरतर ग्रहण किया है और उस पूरी प्रक्रिया को अपनी रचना मे प्राय सही उद्घाटित किया है।" (युग परिबोध, सयुक्तांक सितबर 77-जनवरी 78, पृ० 1)

नागार्जुन वर्गीय चेतना के लेखक है। उनकी रचनाओ मे वर्ग शत्रु और वर्ग मित्र आसानी से देखे जा सकते है। अपने सहज और सधे हुए लेखन के कारण उन्होंने पाठक को कही भी भटकने का अवसर नही दिया। उनकी तमाम औपन्यासिक कृतियो मे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना के स्वर स्पष्ट सुनाई पडते है। उन्होने किसान और जमीदार, मजदूर और मालिक, पूजीपति और सर्वहारा, पति और पत्नी, मठ और महंत के आपसी रिश्तो पर तनावो को बड़ी गहराई से लिया है। उन्होंने असमान व्यवहार के कारण ही अपने जुझारु और संघर्षशील पात्रो को आगे किया है।

जमीदार और किसान के बनते-बिगडते सम्बन्ध नागार्जुन ने गाव मे जाकर खुद देखे है। जमीदारी उन्मूलन के बाद जमीदार अपनी प्रभुता को बनाए रखने के लिए फाजिल जमीन, बाग पोखर और चरागाहो को चुपके-चुपके नीलाम करा रहा है। इसके लिए नागार्जुन के किसान कान मे तेल डालकर नही बैठे रहते है। वे जमीदार की इस ओछी नीयत का मुकाबला एक संगठन के माध्यम से करते है। वे अपने जैसे अनेको शोषितो को साथ लेकर आगे आते है। आज वे अकेले दबे हुए किसान नही है उनके साथ एक चेतना सपन्न वर्ग भी है जो उन्हें सैद्धान्तिक समझ भी देता है। 'बलचनमा' में यह पूरे गाव के जालिम जमीदार सादुल्लाखा के अत्याचार के खिलाफ 'किसान सभा' का उद्घोष जमीदारों के अस्तित्व को मिटाने की शुरुआत मे एक सशक्त कदम है। नागार्जुन की इसी विचारधारा को समाजवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है। वे शोषितो का साथ देते है उन्हें सीख देते है कि अधिकार के लिए लड़ना उनका कर्तव्य है। सब समान है कोई किसी को दवाकर नही रख सकता। और यदि ऐसा होता है तो उसके खिलाफ उसे अपनी आवाज उठानी होगी, अन्य शोषित भी उसका साथ इकट्ठे होकर देगे।

'वरुण के बेटे' उपन्यास में नागार्जुन ने इसी समाजवादी चिंतन पर संघर्ष का खेल उन मछेरों के बीच खेला है जिनकी रोजी-रोटी को जमींदार अपने बाघी पंजों से छीन कर स्वयं निगल जाना चाहता है। मोहन मांझी और मधुरी जैसे नायक और स्त्री पात्र मछेरों की जिन्दगी को एक नया मोड़ देते हैं। वे अपना 'मछुआ संघ' बनाकर अपनी जीविका की तमाम समस्याओं को दृढ़तापूर्वक सुलझाते हैं। ये मलाही गोढ़यारी गाँव के मछेरे वास्तव में नागार्जुन के आत्मीय हैं। बाबा नागार्जुन इनके हक के लिए बेचैन हैं। डॉ० कुंवरपाल सिंह की मछेरों की समस्या और जन-चेतना पर अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी मछेरों के सामाजिक पक्ष का उद्घाटन है जहां से उनके संघर्ष के सूत्र विकसित हो रहे हैं—

"मलाही गोढ़ियारी के छोटे से ग्रामांचल की ये समस्याएं महान भारत की समस्याएं हैं जिनमें भूमि-व्यवस्था, आर्थिक-व्यवस्था और राजनीति भी सश्लिष्ट है। समस्याएं और अवरोध किस प्रकार जन-चेतना को जन्म देते है। इसका यथार्थ चित्रण तो इस उपन्यास में है ही, साथ ही शोषण से भरपूर समाज के साधन के रूप में समाजवादी समाज व्यवस्था के सुन्दर रूप को भी लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखक कहीं से भी निराश और कुंठित नहीं है और न केवल हवाई कल्पनाओं के रूमानी ताने-बाने बुनता है। वह वैज्ञानिक समाजवाद में आस्था व्यक्त करता है।" (हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 166)

किसानों और मजदूरों के ऊपर होने वाले अमानुषिक व्यवहार और यातनाओं का नागार्जुन डटकर मुकाबला करते है। नागार्जुन संगठन को महत्व देते हैं जो वर्गीय चेतना का प्रमुख आधार होता है। ऊँच-नीच का भेद-भाव उनके यहां नहीं है। उन्होंने वर्गीय समाज को महत्ता पर जोर दिया है। डॉ० सुषमा धवन ने उनके इस चिंतन को समाजवादी चेतना का प्रौढ़ रूप माना है—

नागार्जुन की कथाकृतियां समाजवादी उपन्यास की श्रेणी में विन्यस्त की जाती हैं, परन्तु वे मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार के बोझ से दबी हुई नहीं है। लेखक ने अपनी रचनाओं में सीधे लोक जीवन से इसे ग्रहण किया है और मिथिला भूमि के वासियों को सजीव रूप दिया है'''नागार्जुन ने एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों को आत्मसात किया हुआ है और दूसरी ओर देहाती जीवन का उनको गहरा व्यक्तिगत अनुभव है तथा उससे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए वे यथार्थ के क्रांतिकारी पक्ष को पहचानते हैं तथा जीवन की उन शक्तियों को उभारते है। जिनसे समाज में विषमता दूर होगी, रूढ़ियों का नाश होगा और मानव का विकास होगा।" (हिन्दी उपन्यास, 1961, पृ० 302)

इस प्रकार नागार्जुन का वैचारिक दृष्टिकोण गांव और देहात के बीच विकास को उभारने और उठाने की ओर है। उन्होंने वर्गविहीन समाज की कल्पना भारत के दूर बसने वाले गांवों में की है। निम्न और आर्थिक दृष्टि से हेय समझे जाने वाले लोगों को उन्होंने सार्वजनिक सम्मान का पात्र बनाया है। वैचारिक धरातल को मजबूत करने के लिए उपेक्षित गांव की समस्याओं को सुलझा कर उन्हें दिशा प्रदान की है। नागार्जुन निम्न वर्ग के हिमायती हैं यह उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में साफ झलकता है।

3

नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक संघर्ष

आज का दैनिक जीवन भौतिक आवश्यकताओं की जकड में दिन-पर-दिन कसता जा रहा है। सीमा और सामर्थ्य दोनो ही अपनी-अपनी परिधि को विस्तार दे रही हैं। बढती हुई महंगाई और मुद्रा-स्फीति से विकासशील भारत की समाज-व्यवस्था दिन-पर-दिन चरमराती जा रही है। शहरों मे जहां पढे-लिखे बेरोजगार नई असामाजिकता को जन्म दे रहे है तो गाव मे अब भी अशिक्षा अपने डैने फैलाकर उसे संकीर्णता मे कसती जा रही है। श्रम का महत्व दिनों-दिन गिरता जा रहा है। बेकारी सुरसा के मुख की तरह आकारहीन होकर समाज में नई-नई विद्रूपताओं को जन्म दे रही है। सयुक्त परिवार का बिखराव और अकेले छोटे परिवार की कुण्ठा ने व्यक्ति को बौना बना दिया है। गाव के मजदूर का शहर की ओर पलायन, छोटे-छोटे बच्चो का कारखानो मे काम करना, रिक्शा चलाना, बेलदारी करना, बोझा ढोना आदि उनके स्वास्थ्य मे तो हानिकार है ही साथ-ही-साथ उससे नई पीढी की पंगुता भी स्पष्ट होती जा रही है। हरिजनों, आदिवासियों के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम तो बने है लेकिन उनके कार्यान्वयन का स्वरूप आये दिन दैनिक पत्रों मे उनके ऊपर होने वाले जुल्मों, जिनमे जिन्दा जलाना, महिलाओ के साथ बलात्कार, मदिर-प्रवेश पर हरिजनो की हत्या तथा घरों की लूट आदि से बिना किसी नागा हुए देखा जा सकता है।

आज भी आजाद भारत मे मजदूरो का एक बहुत बड़ा भाग बधुआ मजदूरो के रूप मे जी रहा है। बडे-बडे लोगो के यहां गुलामी करने वाले ये निरीह चुनाव के समय पर ही दस-दस और बीस-बीस परिवारों की संख्या में मुक्ति पाते है। इनके भाग्य का फैसला भी संसद के चौधरियों के साथ जुड़ा हुआ है।

खेती और कल-कारखानो मे एक ओर उत्पादन तो बढा है लेकिन उसका लाभ बडे आदमियों वाले एक विशिष्ट वर्ग को ही मिल रहा है। सरकारी सुविधाओं और रियायतों का पूरा-पूरा लाभ उच्च वर्ग ने प्रत्यक्ष रूप से उठाया है। डॉ० कुवरपाल सिंह ने इस वर्ग की भूमिका पर लिखा है—

"इस आधुनिकीकरण के फलस्वरूप देहातों मे एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ है

जिसका चरित्र कई दृष्टियों से नया है। इस नए उभरे वर्ग में भूस्वामियों और पूंजीपति दोनों के सम्मिलित गुण दृष्टिगोचर होते हैं जिसमें पुराने जमींदार की कुटिलता, पूंजीपति वर्ग की चतुराई और निर्ममता का मिश्रण है। अपना काम निकालने में सिद्धहस्त यह वर्ग देश की राजनीति और सम-सामयिक जीवन को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहा है।' (हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 155)

आज कल यदि गरीब के घर में इजाफा हुआ है तो यह गरीबी का ही हुआ है। बढ़ती हुई मंहगाई ने उसके चलने के घुटने और सोने की कमर दोनों तोड़ दिये हैं। अतः वह दिन-रात मंहगाई की मार से बिलबिलाता हुआ हर रोज सड़क के चौराहों पर, फुटपाथों पर, पथराई आंखें लिये देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में श्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद की यह टिप्पणी विचारणीय है जिसमें बढ़ती हुई अमीरी और गरीबी को रेखांकित किया है—

"अगर कृषि वर्ष 1973-74 को लेकर इस बढ़ोत्तरी के असर का मोटा हिसाब-किताब किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि बड़े जमींदारों को एक हजार करोड़ रुपये से भी ज्यादा का फायदा हुआ होगा। इसी तरह का भारी फायदा आटा मिल-मालकों थोक व्यापारियों को हुआ था। दूसरी ओर, आम लोगों को गेहूं या चावल खरीदते वक्त, सरकारी वितरण प्रणाली से हो और खुले बाजार में भी बढ़ी हुई कीमतें चुकानी पड़ती थी। इसलिए यह कदम भी अमीरों को और अमीर तथा गरीबों को और गरीब बनाने का एक साधन ही साबित हुआ।" (समकालीन भारत 1981, पृ० 97-98)

इस टूटन और घुटन के बीच झूलता हुआ गांव भी आज एक नए समाज की संरचना कर रहा है। नागरिक जीवन से दूर अपनी ही सीमा और सामर्थ्य में पलने वाले देहाती अंचल थकी, कुछ कर गुजरने को छटपटाती मानसिकता को जन्म दे रहे हैं जिससे उनके मन में अधिकार बोध की ज्वाला उठ रही है। गांव की स्थिति आज भिन्न रूप में दिखाई दे रही है। जमींदार, भूस्वामी, सूदखोर, महाजन, नेता आदि अपनी कम तादाद में होते हुए भी एक बहुत बड़े मेहनतकश वर्ग को दिग्भ्रमित करने पर तुले हैं तो दूसरी ओर निम्न वर्ग प्रगतिशील विचारधारा का सहारा लेकर संघर्ष के माध्यम से स्वाभिमान का जीवन जीने के लिए कृतसंकल्प है—

"मूल्यों का मूल्यों से पारस्परिक संघर्ष इस नवीन दृष्टि का द्योतक है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परस्पर विरोधी मूल्य एक-दूसरे से टकरा-टकरा कर टूट रहे हैं। और कहीं तोड़ रहे हैं।' (डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्रामचेतना, पृ० 89)

औद्योगिक क्रान्ति ने ग्रामीण भारत की अर्थव्यवस्था और सामाजिक सगठन को झकझोर कर तोड़ दिया था। आधुनिकता की नकली दौड़ में यहां की तमाम पारंपरिक मान्यताएं पिछड़ गईं। नवीन समाज-व्यवस्था के अस्तित्व में आने के कारण भारत के देहाती जीवन में एक नया संघर्ष का वातावरण बनता चला जा रहा है। तेजी से उभरते हुए व्यक्तिवाद ने पुराने मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगा कर नयी वर्गीय भावना को अस्तित्व में ला दिया है—

'भय और आशंका से पीड़ित समाज में मानव-मूल्यों और स्वास्थ्य सामाजिक विकास की अपेक्षा करना सम्भव नहीं है। इसी कारण हमारे औद्योगिक नगरों में एक धक्का मात्र संस्कृति विकसित और पल्लवित हुई है। इस व्यवस्था में व्यक्ति को चिड़िया की आंख रूपी अपनी प्रगति और केवल स्वयं का स्वार्थ ही दिखाई देते हैं, और उसी को बेधने का वह जीवन भर प्रयास करता रहा है। फलस्वरूप उस पेड़ के संपूर्ण परिवेश और वातावरण से बिल्कुल बेखबर व्यक्ति और समाज का सामान्य संतुलन और व्यवहार गड़बड़ा गया है।'' (डॉ॰ कुंवरपाल सिंह : हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ॰ 152)

इस समूचे नवनिर्मित समाज में, ग्रामीण जीवन भी बुरी तरह फंस गया है। नागरिक जीवन का यह व्यक्तिवादी और स्वार्थी संक्रामक रोग देहात को अपनी लपेट में लेकर उसके तमाम बुनियादी विश्वासों को उखाड़ रहा है उसमें इस असमानता से जनित परिस्थितियां अनपढ़ कहे जाने वाले देहाती को टकराव का रास्ता दिखा रही है—

''दूसरे रूप में शहरी मूल्य गांव में प्रविष्ट हो रहे हैं। गांव समाज में रहकर भी व्यक्ति अकेलापन अनुभव करता है। नैतिकता टूट रही है। ईमानदारी और सत्य के बदले बेईमानी और झूठ गांव में प्रवेश कर रहा है। संत्रास, कुंठाएं, घुटन धीरे-धीरे ग्रामीण परिवेश का सामाजिक अंग बन रही है भौतिकता, जीवन की सामूहिकता को तोड़ गांव को एवं संयुक्त परिवारों को विघटित कर रही है। जीवन की सामाजिक इकाई का व्यक्तित्व खंडित हो रहा है।'' (डॉ॰ ज्ञानचन्द्र गुप्त : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ॰ 91)

इस बिगड़ते हुए सामाजिक असंतुलन में ग्रामीण समाज के अन्तर्गत जन-चेतना भी बड़ी तेजी से पनप रही है। अपने अधिकार और हक के लिए देहात के मजदूर और किसान ने, परिवार की शोषित महिला ने, पूंजीपति के मातहत सर्वहारा ने, सूदखोर के खिलाफ गरीब ने अपना सिर उठा लिया है। अतः इस बदलते हुए ग्रामीण जीवन के संघर्ष के स्वरूप को नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी प्रत्येक औपन्यासिक कृति अनेकों सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों का प्रमाण है। नागार्जुन के उपन्यासों में आधुनिक ग्रामीण परिवेश में व्यक्ति के जीवन के विभिन्न स्तरों पर संघर्ष और टकराव, टूटन और बिखराव के स्वर सुनाई पड़ते हैं जो निम्नवत हैं—

आधुनिक जीवन का यथार्थ और नैतिकता के बिखरते मानदंड

स्वतन्त्रता के बाद भारत के गांव के जीवन-स्तर का स्वरूप अपने परंपरागत समुदायवादी दृष्टिकोण से अलग होता जा रहा है। आज के गांव का प्रत्येक व्यक्ति तत्काल सच में

जी रहा है। समाज के तमाम आदर्श और नैतिकताएं उसके लिए मात्र खिलौना बनकर रह गई हैं। उसके समक्ष वह है और उसके स्वय के बनाए हुए आदर्श हैं और इससे इतर कुछ भी नही—

"उसके सामने प्रतिष्ठित सभ्य एवं स्वीकृत नैतिक मानदण्ड झूठे पड गए है। और न केवल समाज के प्रति वरन् स्वयं अपने प्रति विद्रोह करने के लिए आकुल है, प्रयत्नशील है। उसके लिए हर संदर्भ अर्थहीन हो गए हैं और सारी नैतिक मान्यताएं, बल्कि सारी की सारी आचार-संहिताएं खोखली एवं जर्जर पड गई हैं। जितना ही वह सार्थक अर्थ प्राप्त करने की चेष्टा करता है उसमें व्यर्थता-बोध गहराता जा रहा है और वह असमर्थ होता जा रहा है।" (डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास, 1972, पृ० 135)

इसी असमर्थता को समर्थ बनाने के लिए वह दिन-रात अपने से जूझ रहा है। वह अपने सफर का अकेला राही है। इसलिए वह रास्ता और लक्ष्य स्वय तलाश करने के लिए व्याकुल है। 'उग्रतारा' उपन्यास में नागार्जुन ने इस अपने को जीवित रखने वाले आधुनिक जीवन यथार्थ के मुद्दे का संकेत कर दिया है—

"देहात में रहना है तो गुण्डा बनो कामेश्वर ! गुण्डों से दोस्ती करो, उन्हें खिलाओ पिलाओ। तुम उनका काम करो वे भी तुम्हारा काम करेंगे···।" (पृ० 103)

इसी उपन्यास में भूदान आन्दोलन में मिली जमीन पर बेदखली के कारण संघर्ष ने दूसरा रूप प्रस्तुत किया है कठोर मेहनत से ऊसर और बंजर जमीन को उपजाऊ बनाकर जिस व्यक्ति ने अपने खाने योग्य बनाया उसे गांव के जमीदार द्वारा दान में देकर हड़पना नीचता और बेईमानी का दूसरा उदाहरण नही हो सकता। परन्तु वह व्यक्ति जिसे यह जमीन दान मे मिली थी इस अन्याय के प्रति गड़ासा उठा लेता है और उसको जेल हो जाती है परन्तु अन्याय को फिर भी सहने के लिए तैयार नही है। सिपाही भभीखन सिंह के मुह से यह सत्य स्पष्ट होता है—

"इस अधेड़ को कैदी भभीखन सिंह बहुत मानते थे। जमीन की बेदखली के खिलाफ उसने जमकर लड़ाई लड़ी थी। भूदान मे मिली ऊबड़-खाबड़ जंगली जमीन को उसने खेती के लायक बना लिया तो पुराने भूदानी की लार टपकने लगी। फिर से कही रद्दी जमीन देकर वे उससे अच्छी जमीन छीनना चाहते थे। मार-पीट हुई गड़ासा चल गया। भूदानी बाबू के आदमियों में से एक को इतना गहरा घाव लगा कि अस्पताल पहुंचते-पहुंचते बेचारे के प्राण पखेरू उड़ गये। मुकदमा चला, इसे नौ वर्ष की सजा हुई।" (वही पृ० 24)

अतः सच्चे अर्थों मे आज के जमाने में व्यक्ति का समूचा अस्तित्व उसके संघर्ष के जीवन पर ही टिका है। अपने परिवेश में रहने के लिए भी उसे अपने ही परिवेश को अनुकूल बनाना पड़ रहा है। प्रतिकूलता की स्थिति मे वह तिलमिलाकर व्यवस्था पर चोट करता है। उसे तोडता है और उसके इन जर्जर सूत्रों को बखेर कर नए समाज की शुरुआत में बुनावट डालता है। ग्रामांचल के उपन्यास आज इसे रेखांकित कर रहे है। व्यक्ति के इस बड़े और छोटेपन की भूमिका उसके आगामी भविष्य अथवा निकट भविष्य की संरचना है। डॉ० ज्ञानचंद्र गुप्ता ने इसको नई परिस्थितियों का प्रसव कहा है—

"स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास ने गांव और मनुष्य दोनों को यथार्थ परिवेश में तटस्थ दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। परम्पराओं के विरोध एवं मूल्यों के अवमूल्यन से ग्राम गंधी परिवेश में नैतिकता की नयी स्थितियों ने जन्म लिया है।" (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० 95)

क्योंकि यह वातावरण परिस्थितियों की नयी देन है। अतः उसे स्वीकार करने में व्यक्ति को देर लग रही है। यही देर उसके जीवन में संघर्ष के द्वार का रास्ता खोलती है। बढ़ते हुए मुद्रास्फीति के संकट, ढहते हुए आर्थिक सोपान और बिगड़ते हुए सामाजिक मूल्य उसके लिए करवट के रूप में है जो कि कुछ राहत के रूप में इधर से उधर होने का अहसास कराते हैं। आधुनिक सामाजिकता का स्वरूप व्यक्ति के आकार-प्रकार को घटाने-बढ़ाने में अपनी विशिष्ट भूमिका निभा रहा है। वे तमाम मूल्य जिनको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति ने संघर्ष किया था आज उन्हें तोड़ने के लिए कर रहा है। यह यकायक ही नहीं अपितु एक परंपरा का चरण है जो कि अब आगे आ चुका है।

आजकल झूठ, बेईमानी, बेलिहाजी, अत्याचार, शोषण, दमन, दौनाचार आदि बदलती हुई नैतिकता के मानदण्ड है। सच्चाई और ईमानदारी ने इस युग में आकर अपनी परिभाषा बदल दी है। नागार्जुन ने इन सबका कारण अर्थ प्रसूत माना है। यह सत्य भी है कि जिनके पास धन होता है, दौलत होती है उससे बड़ा राजा आजकल कोई नहीं है। वह जो कुछ भी करता है वह पुण्य का काम मान लिया जाता है। अर्थाभाव में ही नैतिकता की नयी परिभाषा 'बलचनमा' उपन्यास में बलचनमा दे रहा है—

"गरीबी नरक है भइया नरक। चावल के चार दाने छीटकर बहेलिया जैसे चिड़ियों को फसाता है उसी तरह से दौलत वाले गरजमंद औरतों को फंसा मारते हैं। उनके पास धन भी होता है और अकल भी होती है। अपरंपार है उनकी लीला। बड़े खानदान का आवारा से आवारा आदमी पंडितों और पुरोहितों से भलमनसाहत का फतवा पा जाता है।" (पृ० 65)

बलचनमा ने इन लोगों का घर-द्वार देखा है। उनकी हर चाल बलचनमा को ज्ञात है कि ऊंट किस करवट से बैठ रहा है। बड़े लोगों के आज के विश्वास और उनकी नीयत के बारे में उसका बेबाक कथन सत्य विशेष का ही प्राकट्य है—

"लुच्चे होते हैं ये लोग। असूल तहसील का काम गुमस्ता बराहिल के हवाले सेवा-टहल का काम बढ़िया खवास के हवाले, बाकी बचे बेटा नाती, भाई-भतीजा, मार-मर-बैठा सो बैठे-बैठे तास पीटेंगे, शतरंज खेलेंगे, शहर जाकर सिनेमा देख आयेंगे, बेकार मन शैतान का घर। खानपान और आराम की कमी नहीं, काज करेंगे नहीं किसी की लड़की सयानी हुई नहीं कि निशाना साधने लग जाते हैं। यह नहीं कि बहन-बेटी सबकी बराबर होती है। अपनी इज्जत आबरू संभालोगे तो दूसरे का भी भला होगा। मगर भइया, जिनके पास दौलत होती है वह निपट अंधे होते हैं, अपना-पराया कुछ नहीं सूझता।" (वही, पृ० 64)

परन्तु बलचनमा ने इन्हीं दौलत वालों से टक्कर ली है। मामूली खेतिहर मजदूर अपनी बहन रेवनी के साथ मझले मालिक द्वारा किए गये बलात्कार पर फुफकार उठता

है। वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य की परवाह किए बिना उस जालिम की कमीनी हरकत का बदला लेने के लिए बेताब है—

"मैंने मन-ही-मन अपनी ओर से पक्का कर लिया कि कैद काटूंगा, फासी चढूंगा, गांव से उजड़ जाऊंगा मगर इस शैतान के आगे सपने में भी सिर नही झुकाऊंगा···बेशक मैं गरीब हूं। तेरे पास अपार संपदा है, कुल है, खानदान है, बाप-दादे का नाम है, अडोस-पड़ोस की पहचान है, जिला-जवार में मान है और मेरे पास कुछ नही है। मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूंगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध मे लगा दूगा। मां और बहिन को जहर दे दूगा। लेकिन उन्हे तू अपनी रखैल बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा।" (वही, पृ० 81-82)

'रतिनाथ की चाची' उपन्यास के अतर्गत भी सुशीला नाम की विधवा ऐसे ही धनी सेठ की नीयत के बारे मे जयनाथ को बताती है। जोकि बाहर से विधवाश्रम के संरक्षक होने का दिखावा कर शोषित नारी का अभिभावक होने का स्वांग करता है फिर भी उसकी नजर उनकी सूनी कलाइयो पर टिकी रहती है—

"एक बार पचगंगा घाट पर बैठे-बैठे सुशीला ने कहा—बहता पानी ही धार कहलाता है। देखो सुबह-शाम हजारों आदमी नहाने आते है मगर तुम जिस जाति मे, जिस समाज मे पैदा हुए हो, वह जिन्दा नही मुर्दा धार है। वह झाडन है।···उस धनी सज्जन का नाम मैं तुम्हे नही बताना चाहती जिसका हृदय हम विधवाओ के प्रति करुणामय है। इतना करुणामय कि तीन-तीन विवाहिताए पांच-पांच रखेलिया रहते हुए भी चूड़ियों से सूनी कलाई की ओर ललचाई निगाह से देखा करता है। ताड़ी पीने वाले को तुमने अवश्य देखा होगा मेरा भी वही हाल है। मैं प्रज्वलित अग्निकुड हूं, जो जितनी ही स्निग्ध समिधाएं पाता है, उतना ही निर्धूम उतना ही निष्ठुर होता जाता है···मेरे जितने मित्र बनते है उतनी बार मैं चूड़िया पहनती हूं और फोड़ती हूं।" (पृ० 48)

इस तरह जीवन के बहुआयामी संदर्भों की नागार्जुन ने अपने उपन्यासो मे आधुनिक व्याख्या की है। उन्होंने वर्तमान सत्य के सूत्रो को स्पष्ट करने का सोद्देश्य प्रयास किया है।

सामाजिक मूल्य संघर्ष और उनकी नवीन स्थिति

नागार्जुन ने आधुनिक समाज की विसंगतियों को देखा है। व्यक्ति से व्यक्ति के बीच बढ़ते जाने वाले फासले आज के युग में जिस तेजी के साथ बढ़ रहे है वह उनकी दृष्टि से ओझल नही हैं। उन्होंने स्पष्ट किया है कि सामंजस्य, आपसी सहयोग, सदाचरण आदि समाज के वे मानदण्ड हैं। जिन पर पूरी समाज व्यवस्था टिकी हुई है। परन्तु आजकल के वैज्ञानिक युग में इन्हे टूटते जाने का बार-बार उल्लेख किया है। सारा समाज जिस अनुकरण की दौड मे अपने अस्तित्व की पहचान खोये दे रहा है नागार्जुन ने उसे बडी निकटता

में देखा है। यह संक्रामक रोग गांव के सरल वातावरण में भी अपने पंख फैलाकर उसे ग्रसे जा रहा है। मानवीय रिश्ते आपसी तनाव के कारण धुंधले होते जा रहे हैं। पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, मां-बेटा, मां-बेटी, पति-पत्नी आदि की समरसता आज संयुक्त परिवार के विघटन के कारण नीरस हो गई है। धोखा, बेईमानी, फरेब, छल-कपट और अन्य अनेक बुराइयां स्वार्थ के प्रबल होने के कारण ग्रामीण मानव को निगलती जा रही हैं। परन्तु इन्हीं सामाजिक मूल्यों में बिखराव आने के कारण देहात में तनाव और संघर्ष का वातावरण तैयार हो रहा है। एक दूसरे को धकियाकर अपनी स्वार्थपूर्ति अथवा स्वतंत्र जीने की कामना लेकर आगे बढ़ने का संकल्प साधे हुए है—

"गांव में भी परंपरागत समाज-व्यवस्था से मूल्य निरर्थक प्रतीत होने लगे हैं। अतः अब व्यक्ति परंपरागत मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों को आत्मसात करने लगा है। इस नव मूल्य परिग्रहण की प्रक्रिया में व्यक्ति के लिए संघर्ष एक आवश्यकता बन गया है। वस्तुत: यह समाज से नहीं वरन् मूल्यों का परंपरागत मूल्यों से संघर्ष है। इस मूल्य संघर्ष में युगानुकूल मूल्य व्यक्ति का पूर्ण समर्थन पाकर स्थान बनाते जा रहे हैं।" (हेमेन्द्र पानेरी : आलोचना, जुलाई-सितम्बर 1972, पृ० 60)

अब तो स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि पवित्र शारीरिक रिश्ते भी आधुनिक मूल्य बोध के कारण निरर्थक हो गए हैं। बेलिहाजी और बेअदबी हर घर में प्रवेश पाकर उसे अपनी गिरफ्त में लेने को उतारू है। अतः पारिवारिक सम्बन्धों के तनावों ने नयी सामाजिकता की ओर इशारा किया है जो अब तक देखने को नहीं मिला था।

ग्रामीण जीवन में पति और पत्नी का रिश्ता जो कि कुशल दाम्पत्य जीवन के आधार पर एक स्वस्थ समाज के निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण आदर्शवादी भूमिका निभाता था। परन्तु आधुनिक शिक्षा ने उसके सामंजस्य में गुण-दोष का भाव पैदा कर दिया है। पति पक्ष का पत्नी के प्रति अविश्वास और कठोर शासन उसे उससे टूटने, अलग होने अथवा अपनी स्वतंत्र अस्मिता बनाए रखने पर मजबूर किए दे रहा है। आज की नारी वह दबी हुई और गुलाम नहीं है जो कि लात और जूते खाकर अपना सिर नीचा किए पति के पैरों में स्वर्ग की कल्पना करती रहे। उसे अपने में स्वतंत्र और मनुष्य के बराबर जीने का हक है। वह उस हक को लेने के लिए आगे बढ़ रही है। 'वरुण के बेटे' की मधुरी ऐसी ही पत्नी है जोकि वर पक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपने मां-बाप के यहां जीवन बिताने का संकल्प ले लेती है। उसका यह संकल्प यकायक और पूर्व नियोजित न होकर बल्कि एक प्रतीक्षा का परिणाम है जोकि नारी-जीवन पर घटने वाले अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप आया है। मधुरी के इस क्रान्तिकारी कदम ने आधुनिक महिला जगत के लिए नया द्वार खोला है। पिटना, लात, जूते, उसको आदर्श नारी का खिताब लेना स्वीकार्य नहीं है वह स्वाभिमान की जिन्दगी बिताने के लिए एक दिन ऐतिहासिक निर्णय लेकर पितृगृह में चली आती है—

"अब वह कभी उस नशाखोर बुड्ढे की लात बर्दाश्त करने नहीं जायेगी···फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर नेकचलन और मेहनतकश जवान से···और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नहीं गुजार सकती है क्या?" (वरुण के बेटे, पृ० 109)

बिना पति के जीवन बिताने का यह निर्णय वास्तव मे समाज मे नारी के लिए चुनौती है जिसे एक अनपढ़ नारी ने अपने स्वाभिमान और आत्म-मर्यादा के लिए स्वीकार किया है।

इसी तरह उग्रतारा भी अपने पति भभीखन सिंह से मन का मेल न होने के कारण पति और पत्नी के सम्बन्ध को तोड़ लेती है। यद्यपि वह प्रारम्भ में तो आदर्श पत्नी की भूमिका निभा कर सिपाही भमीखन सिंह को अभिभूत कर देती है परन्तु उसके मन में पति और पत्नी की कल्पना हर दिन हर रात कचोटती रहती है वह मात्र परिस्थितियों से अस्थाई मेल करती है—

"यह सब सुन लेगी। एक बार भी जुबान नही खोलेगी इत्मीनान से परांबड़ पोती रहेगी, आलू तलती रहेगी, सिपाही जी प्याज नही खाते हैं। उसने भी प्याज छोड़ रखा है। सिपाही जी मास-मछली का नाम तक सुनना पसंद नही करते, उसने भी मास-मछली को अपने चित्त से उतार दिया है। सिपाही जी को सूजी का हलवा अच्छा लगता है उसको भी सूजी का हलवा अच्छा लगने लगा है। सिपाही जी को पीले रंग में रंगा हुआ कपड़ा पसंद है, उसको भी वही पसंद है'''उगनी मे उनको धर्मपत्नी के सारे लच्छन मिल रहे थे। यह दूसरी बात थी कि सिपाही जी में उगनी को 'घर वाला' तो जरूर मिल रहा था पति नही मिल रहा था।" (उग्रतारा, पृ० 46)

उसी पति की तलाश मे वह तमाम थोथी मान्यताओं को ठुकराती हुई अपने मन-चाहे युवक कामेश्वर सिंह के साथ गर्भवती होते हुए भी चल देती है। उसका अपने पति भमीखन सिंह के यहा से चला आना कामेश्वर के घर मे निन्दा का विषय नही बनता। उल्टे कामेश्वर की भाभी उसके इस कदम की सराहना करती है और उग्रतारा की माग में कामेश्वर के हाथों सिंदूर डलवा कर उसके स्वस्थ दाम्पत्य जीवन की कामना करती हुई आशीर्वचन कहती है—

"सिंदूर-भरी कटोरी सामने रखकर भाभी बोली आज यह विधि पूरी होगी। मैं पुरोहित हू। लो, चुटकी मे सिंदूर लो और उग्रतारा की सीध भर दो बाबू! उठो''' कामेश्वरने चुपचाप भाभी की आज्ञा का पालन किया। दोनों ने उठकर भाभी को बारी-बारी से प्रणाम किया अच्छी तरह पैर छूकर भाभी ने आशीष दी दीर्घायुभव! सौभाग्य-वती भव! दाहिना हाथ उगनी और कामेश्वर की पीठ पर फिरता रहा।" (वही, पृ० 96)

यह रुग्ण दाम्पत्य जीवन को तोड़कर नए और स्वस्थ दाम्पत्य जीवन की शुरुआत पहली और ऐतिहासिक है। गर्भवती विधवा को जोकि किसी अन्य मर्द के साथ कल तक शरीर संपर्क करती रही यह जान-बूझ कर भी कामेश्वर उसे स्वीकार करता है। नागार्जुन समाज की उन रुग्ण परंपराओं को तोड़कर समाज के नव निर्माण की शुरुआत करते हैं—

"आज एक ऐसी घटना घटी थी, जिसकी कल्पना का आभास तक उगनी को नही था। आज एक पुरुष ने गर्भिणी नारी के सीमत में सिन्दूर भरा था! धोखे मे नही जान-बूझकर! उनके होशोहवास दुरुस्त थे, विवेक सजग था आवेग या आवेश चेतना पर

हावी नहीं था। सभी बातें उसे मालूम थी।" (वही, पृ० 97)

लगता है यह उपर्युक्त कथन नागार्जुन स्वयं अपनी सफाई देने में कह रहे हैं क्योंकि यह ऐतिहासिक शुरुआत अभी तक अनदेखी और अनुसनी थी। वास्तव में आज तेजी से मूल्यों की गिरावट और उसके साथ ही नवीन मूल्यों की स्थापना अपनी आवश्यकता को घोषित करती चली जा रही है। नागार्जुन इस भावी निर्माण के प्रति अपनी प्रगतिशील विचारधारा के साथ चल रहे हैं। असामान्य स्थितियों को समूल नष्ट करते हुए वे स्वाभिमान और आत्म-मर्यादा को अधिक महत्व देकर देहाती जीवन को भी नवीन दिशा देने का उनका प्रयास है।

'रतिनाथ की चाची' में मां (गौरी) और पुत्र (उमानाथ) तथा सास (गौरी) और पुत्र वधू (कमल मुखी) के व्यक्तिवादी संघर्ष को दिखाया गया है। यह उमानाथ पिछड़ी हुई परम्पराओं को मानने वाला, दूसरों के बहकाने और समझाने के कारण वर्तमान यथार्थ को समझ पाने में असमर्थ है। वह विधवा जीवन से बिल्कुल अपरिचित है कि उसकी मां ने कितनी परेशानी उठाकर उसे पढ़ाया-लिखाया है। लेकिन मां को अनैतिक गर्भ रह जाने के कारण वह उसकी सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन नहीं करता अपितु मां को लातों से मारता चला आता है—

"इस बार दुर्गा पूजा की छुट्टी में कलश स्थापना (नवरात्रि के आरम्भ का दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदा) दो रोज पहले उमानाथ घर पहुंचा, पर थोड़ी ही देर बाद अपनी मां के सम्बन्ध में सारी बात जब उसे मालूम हुई तो ग्लानि और क्षोभ के मारे उसका दिमाग फटने लगा'''उमानाथ फुफकारता हुआ अपने आंगन में आया और मां का झोंटा पकड़ लिया। वह बेचारी इस आकस्मिक आक्रमण से चकित थी ही कि इसी बीच लड़के ने उसकी पीठ पर आठ-दस लात सदासद जमा दिए।" (पृ० 77)

उमानाथ को मां के वैधव्य से बिल्कुल भी सहानुभूति नहीं है। वह विधवा समाज की मुसीबतों और असामाजिक स्थिति को बड़े-बड़े शहरों की रोशनी में नहीं देख पाता। उसके विचारों में नौकरी पर पहुंच जाने पर भी कोई परिवर्तन नहीं है। वह अपनी मां को जोकि चर्खा चलाकर अपना मन और दिन काट लेती है गांव में आकर लताड़ देता है—

"मां की आंखें सजल हो आईं, आहत वेदना का वह प्रतीक—आंसू—लड़के ने देखना नहीं चाहा, उलटे कड़ककर कहता चला गया कि चर्खा चलाकर तूने दुनिया-भर को बतला दिया। उमानाथ आवारा है। कलकत्ता में खुद तो मौज मारता है और घर पर मां जुलाहिन हुई जा रही है। खबरदार! अब कभी चर्खा छुआ तो हाथ काट लूंगा।" (वही, पृ० 146)

इस आधुनिक सुपुत्र उमानाथ के इस चरित्र पर डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त ने दो-टूक बातें कहीं—

"बेटे महाराज ने कलकत्ते में नौकरी क्या की मानो अफसर ही बन गए हों। मां को सहारा देने के स्थान पर चलते समय उसे झिड़कियां देते हैं।" (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० 106)

यह तो रहा पुराणपथी सुपुत्र का व्यवहार। पुत्रवधू इससे भी चार कदम आगे है जोकि संयुक्त परिवार की दीवार को अपने वाग्बाणों से ढहाती है। विधवा गौरी ने बीसियों वर्षों से यह आशा की थी कि उसके उमानाथ की वहू बड़ी अच्छी, नेक, सास-सेविका और कुलशीला होगी। परन्तु इस नयी पीढ़ी की सदस्या ने सब पर पानी फेर दिया। उमानाथ मां की सेवा करवाने के बजाय उसे और आरामतलब होने का पाठ पढ़ाये चला जा रहा है। वह चाची की एक नही सुनती। उल्टे उसकी शिकायत अपने पति से करती है—

"घर के काम में तो कुछ देती नही, मगर लड़की विदाई के समय पचास जाने कहां से निकाले? कितनी लम्बी है तुम्हारी मा की आंत?" (रतिनाथ की चाची, पृ० 154)

इसी पारिवारिक टूटन में, इसी आपसी संघर्ष-भरे घर मे रतिनाथ की बहुत ही चेतना संपन्न भूमिका है जोकि अपना चारित्रिक विशेषताओं से इस पारिवारिक संघर्ष को दूसरी दिशा दे रही है। रतिनाथ यद्यपि चाची की सगी संतान नही है फिर भी वह उसके सगे बेटे उमानाथ से बीस गुना बेहतर है। वह कही भी चाची के स्वाभिमान के खिलाफ एक भी शब्द बचपन मे ही सुनने को तैयार नही है। उसे ज्ञात है कि चाची अनैतिक गर्भ से है और उसका सामाजिक बहिष्कार हो चुका है परन्तु फिर भी वह अकेला पूरे गांव से टकराने को तैयार है—

"रती को चाची का यह रुख पसन्द नही आया। वह सोचता जो एक सुनायेगा हम उसे दस गुना देंगे। जो आग नही देगी उसके चूल्हे पर पेशाब कर दूगा।" (वही, पृ० 14)

और चाची भी मरते समय यही वसीयत करती है कि उसे अपनी कोख से उत्पन्न पुत्र से कोई सुख और आनन्द नही यह रतिनाथ उनके अन्तिम सस्कार का भागीदार हो—

"आज चाची ने भगवान से प्रार्थना की कि उसका अन्तिम संस्कार रतिनाथ के हाथों ही हो। पुत्र को जब मां से इतनी घृणा है तो यह अप्रिय कार्य उसे न करना पड़े।" (वही, पृ० 150)

इस प्रकार आधुनिक पारिवारिक संघर्ष व्यक्ति की नयी मानसिकता बना देने में सफल होता जा रहा है। आपस के खूनी रिश्ते आपस में टकराकर संघर्ष के माध्यम से नयी सामाजिकता का सृजन करते जा रहे है। व्यक्ति एक से हटकर दूसरे के साथ जुड़ रहा है। यह उसकी नही समय के द्वारा कराई गई शुरुआत है जिसे आधुनिक पीढ़ी ने अपनी चेतना के साथ पकड़ा है। उसे अपने जीवन के आधारों मे शामिल कर अपनी अलग दुनिया कायम की है। नागार्जुन ने इस परिवर्तन को सफलता के साथ पाठक के सामने प्रस्तुत किया।

नवीन दाम्पत्य जीवन और आधुनिक नारी

भारतीय जीवन मे विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्ति नारी के साथ अथवा नारी व्यक्ति के साथ सामाजिक प्रतिबन्धों, समझौतों एवं परम्पराओं के अनुसार जीवन-भर एक-दूसरे के पूरक के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। लेकिन आज विवाह की भूमिका मे पवित्रता की जगह व्यावसायिकता का प्रभाव बढ गया है। इसी के परिणामस्वरूप बाल विवाह, विधवा-समस्या, अनमेल विवाह, विकौआ-वर, दहेज आदि कुरीतियों ने समाज को अपनी पकड़ मे कसा है। आज यह रोग असाध्य है। शिक्षित और अशिक्षित परिवारों मे दहेज के कारण इस पवित्र बन्धन मे दरार पड़ती जा रही है। दहेज के अभाव मे सैंकड़ों सुन्दर और शिक्षित महिलाएं वरपक्ष का कोपभाजन बनती है। पर्याप्त मात्रा मे धन-सम्पत्ति न होने के कारण कन्यापक्ष अपनी पुत्री को योग्य वर नही दिला पाते और यही कारण है कि उनमे अधिकाश बाल-विवाह का शिकार होती है तो कही बेमेल वर के साथ उनका दाम्पत्य सूत्र बाध दिया जाता है।

परन्तु आज आजाद भारत के संविधान में नारी को संरक्षण दिया है। उसे पुरुष के समान ही जीवन-यापन करने के सुखद दाम्पत्य जीवन चलाने के लिए अधिकार मिले है। इसीलिए अब वह आज से सौ साल पहले वाली नारी नही है जो कि दब-पिटकर अपना दाम्पत्य किस्मत के नाम पर खीचती रहे। गाव और शहर मे उसके ऊपर होने वाले अत्याचारो के लिए कानूनी प्रतिबन्ध के साथ-साथ सामाजिक संगठन भी इस दिशा मे कार्य कर रहे है। दूसरे, उसके लिए रोजी और रोटी के समुचित साधन उपलब्ध हो जाने के कारण उसमे एक आत्म-सम्मान की भावना ने जन्म लिया है। वह अपने पैरो पर खड़ी होकर अपने जीवन का निर्वाह कर सकती है----

"बाद के वर्षों मे विशेष रूप से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्त्री और पुरुष को वैधानिक रूप से समान अधिकार मिल जाने पर तथा नारी-शिक्षा का द्रुत गति से प्रसार होने पर सामान्य नारी पिछले युग की नारी से अधिक सचेत है, अधिक आत्म-विश्वासी है और नारी के प्रति किये जाने वाले अन्याय को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। इसलिए वह नारी सगठन के सभी उपाय कर रही है। कानून बन गया है कि एक पुरुष एक ही पत्नी रख सकता है। इससे नारी स्वय को अधिक सुरक्षित समझने लगी है। साथ ही हिन्दू कोड बिल के अनुसार तलाक की सुविधा पति-पत्नी दोनो को प्राप्त हो जाने से एक-दूसरे के अन्याय या अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने का दोनों को अवसर मिल गया है। अतः पत्नी अब न तो अत्याचार सहने को तैयार है और न ही अपनी उपेक्षा सहती है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान ने उसे कार्य-क्षेत्र मे लाकर खड़ा कर दिया है।" (डॉ० हेमराज निर्मम : हिन्दी उपन्यासों मे मध्य वर्ग, 1978, पृ० 92-93)

लेकिन रूढिवादी समाज में आज भी वैवाहिक पद्धति के नाम पर आदर्श और नैतिकता की दुहाई दे-देकर इस वर्ग के साथ खिलवाड किया जा रहा है। समाज चाहे कितना ही आधुनिक और प्रगतिशील विचारो का क्यों न हो अपनी दकियानूसी प्रवृत्ति

के कारण ही वह पुरानी मान्यताओ को नकारने के लिए तैयार नही है। परिणामस्वरूप समाज मे अवांछित वातावरण, स्वच्छन्द यौन भावना, वैधव्य, अनैतिक गर्भ, तलाक जैसी स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं और वही समाज मे संघर्ष की भूमिका प्रारम्भ होती है जिसके आगे पनपने में संघर्ष अथवा दबे रहने में संत्रास जैसे मनोरोग विकसित होने लगते हैं। अतः देहात भी अब इस आग की लपट की चपेट मे आ गए है। वहां कही संघर्ष है तो कही घुटन, कही स्वाभिमान है तो कही कुण्ठित जीवन वाले दाम्पत्य अपनी स्थिति में हैं।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में इस पारिवारिक संघर्ष को एक दिशा देकर आगे बढ़ाया है। जैसा कि पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि नागार्जुन यथा स्थितिवादी नही है। समाज की अनियमितताएं और अत्याचार उन्हें निरन्तर कलम थामने को मजबूर किये रहते है वे स्वयं मैदान में उतरते हैं। दुहरे व्यक्तित्व का धनी वह औघड़ इस पारिवारिक विद्रूपता को उजागर करता हुआ उस पर तीखी मार देकर एक नये समाज का निर्माण करता है जो उपन्यास साहित्य में अब तक सम्भव नही था। उन्होंने बाल-विवाह, बेमेल विवाह, वैधव्य, दहेज आदि के ऊपर उनकी विसंगतियों को सामने लाकर पाठक और पात्रों को स्वस्थ और आधुनिक शोषण मुक्त विचारधारा दी है जोकि समता-समानता के लिए एक संघर्ष के रूप में उभरकर मानव-समाज के समक्ष आती है।

नागार्जुन ने बाल-विवाह और उसके परिणाम के ऊपर काफी विस्तार से प्रकाश डाला है। समाज की इस कुप्रथा ने कितनी ही अबोध और कच्ची उम्र की बालिकाओं को अपने अन्दर भींचकर उन्हे समय से पहले ही समाप्त कर दिया। 'पारो' उपन्यास की नायिका का करुण अंत इसी समाज की निकम्मी प्रथा के कारण घुट-घुटकर हो गया है। वह अबोध बाला शारीरिक दृष्टि से इतनी सक्षम नही है कि अपने पितातुल्य पैंतालीस वर्षीय प्रौढ के साथ सहवास कर सके। लेकिन समाज का दकियानूसी वर्ग आदर्शवादिता के नाम पर मेल और बेमेल की स्थिति को न देखकर वह लड़की को भार समझता है। ऐसी स्थिति में लडकी या तो स्वयं को मार लेती है अथवा पति महोदय के स्वर्गवासी हो जाने पर वह जीवन-भर लाश की तरह सड़ती रहती है। इस तरह के संयोग पर नागार्जुन ने व्यंग्य करते हुए लिखा है—

"मगर जिसे कुछ भी कहने का हक नही है उसके लिए जैसा पैंतीस वर्षों का वर वैसा ही पैंतालीस वर्षों का। लंगड़ा रहे या अंधा, लूला रहे या काना, कोढ़ी रहे या पगला, बूढा हो या प्रौढ—पति साक्षात् परमेश्वर होता है, यही शिक्षा तो अपने यहां छुटपने से ही औरतों को मिलती है।" (पारो, पृ० 41)

कन्यापक्ष मे कन्या की स्थिति बड़े तनाव का कारण होती है। वह मां-बाप, भाई-भाभी सभी के लिए ऐसा भार-सदृश है जोकि तीन कुलों के ऊपर सदैव सवार रहता है। विवाह होने के बाद उसकी तमाम औपचारिकताएं यदि पूरी नही की जाती तो वरपक्ष मे अनावश्यक तनाव आने लगता है।

बाल-विवाह से पीड़ित पार्वती अपनी नारी बनने की भूमिका पर और बेमेल पति

के साथ गुजरने वाले क्षणों की स्मृति को अपने ममेरे भाई बिरजू से दकियानूसी-समाज की परम्परा पर तमतमाती हुई कहती है—

"जिन्हें आप लोग चौधरी कहते हैं उनसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है ? पति-पत्नी का सम्बन्ध ? नहीं, हरगिज नहीं···सुन लीजिये, सब चतुर्थी की रात में दस रुपये के दस नोट मेरे आगे फैलाते हुए उन्होंने कहा था और चाहिए तो वैसा कहिए ? क्रोध से मैं जलने लगी। हे भगवान ! लाख दण्ड दे मगर फिर औरत बनाकर इस देश में जन्म नहीं दे···छी आ। पैंतालीस वर्षों का यह नर-पिशाच एक अबोध लड़की के सामने दस रुपयों के नोट का पधार इसलिए लगावे कि···" (वही, पृ० 50)

नारी की दयनीय स्थिति से नागार्जुन परिचित हैं। वे जानते हैं कि जानवरों की तरह नारी की नीलामी अनमेल वर के लिए दकियानूसी अभिभावक धन और स्वार्थ-पूर्ति के लिए बेझिझक करते हैं। वे अपने जीवन पर दिन-रात नैतिकता और आदर्श के नाम पर आंसू बहा-बहाकर अपने वैवाहिक जीवन को पानी में आग की तरह मानती है।

अनमेल विवाह पारो के लिए पानी में आग की तरह ही है। वह बचपन की एक कहानी को अपने वैवाहिक जीवन से जोड़ती हुई अपने पिता-तुल्य पति पर आंसू बहाती है—

"जोर-जबर्दस्ती कोई किसी के शरीर पर ही केवल कर सकता है, मन पर कतई नहीं। वैसे आप ही कहिए कि जहां पचास वर्ष के वर की पत्नी पन्द्रह साल की होती हो वहां सौमनस्य कैसे सम्भव है ? बहुत छोटी ही थी मैं जब भाभी के मुंह से एक कहानी सुनी थी। उसमें हुआ यह था कि किसी पोखरे में आग लग गयी। उन दिनों यह बात अजीब लगती थी। पर अब अच्छी तरह समझती हूं कि कैसे आग लगती है पानी में···" (वही, पृ० 82)

इस अनमेल विवाह की परिणति होती है उस अबोध की मृत्यु। वह कच्ची उम्र में गर्भवती होकर शारीरिक रूप से कमजोर होने के कारण एक लड़की को जन्म देकर परलोक-वासिनी हो जाती है—

"पारो के लड़का हुआ है, अपने, मगर वह बचेगी नहीं···पिताजी को मड़र इतना कह पाये। पीसी ने बुला भेजा था मेरे छोटे भाई को। गया मगर मैं ही···कहां मालूम था कि पारो का दाह-संस्कार मुझे ही करना पड़ेगा। ओह ! जब तक केरबनिया पहुंचू, तब तक पारो को लोगों ने घर से बाहर लाकर रख दिया था। मैंने जब उस चिर-परिचित आंगन में पैर रखा तो देखा···तुलसी चौरा के पास मृत पारो उत्तान पड़ी है।" (वही, पृ० 93) और वह कुछ ही दिनों का जन्मा हुआ शिशु जीवन-पर्यंत मां और बाप के स्नेह के लिए तड़पता रहेगा।

'रतिनाथ की चाची' के अन्तर्गत तो इस अनमेल विवाह ने कहर ढा दिया है। तरकुलवा में ब्राह्मणों के खानदान में, संस्कृत की नैतिकताओं पर ढोंग पालने वाला शुभंकरपुर का नीलमाधव का घर गौरी के नारी-जीवन का अभिशाप बनकर आता है।

उसका अभाव-अभियोगग्रस्त जीवन इसी अनमेल वर के साथ विवाह होने के

कारण है। नैतिकता और आदर्श के नाम पर गौरी जैसी अनेक स्त्रियां अपने जीवन प
दिन-रात आंसू बहाती रहती है। गौरी अपने अनमेल वर की स्थिति को बताती हु
कहती है—

"गाड़ी चली जा रही थी, डचर-डचर। गौरी उसी पर लेटी पड़ी थी। आकाश से चांद अमृत बरसा रहा था। हौले-हौले हवा चल रही थी। तारों को एक-दूसरे से दूर देखकर फिर उसे एक बार अपने एकाकी जीवन का खयाल आया। स्त्री और पुरुष, पुरुष और स्त्री। एक-दूसरे के पूरक हैं। एक-दूसरे से रहित कुछ नहीं है···इसके बाद गौरी को वह व्यक्ति याद आया जिसके हाथ में आज से बाईस साल पहले वैदिक जी ने यह हाथ थाम दिया था। फिर उसे अपना अभाव-अभियोगग्रस्त वह दाम्पत्य जीवन याद आया जो इसी गाड़ी की भांति डचर-डचर कुछ दिनों जैसे-तैसे चलता रहा—इस गाड़ी के भी दो बैल बराबर नहीं हैं, उनकी भी जोड़ी ऐसी ही विषम थी।" (पृ० 60-61)

यह वैधव्य नारी को समाज के अनगिनत मोड़ों से गुजारता है जिसमें उसका चरित्र और उसका जीवन गल-गलकर नष्ट होता रहता है। वह जब तक मर नहीं जाती, लाश की तरह सड़ती रहती है।

'उग्रतारा' के अन्तर्गत भी सिपाही भभीखन सिंह उगनी से तीन गुना बड़े हैं। उग्रतारा अपने दाम्पत्य जीवन के सहवास को उम्र के बड़े फासले के कारण बलात्कार कहती है। विवाह-पद्धति पर चोट करता हुआ उसका आत्मसंघर्ष इस तथ्य को प्रकट करता है—

"यह भी बलात्कार ही था। ठीक है, भभीखन सिंह ने वैदिक विधियों से शादी की थी। ठीक है आधे घण्टे तक अग्नि में आहुतियां डाली गई थीं। ठीक है, हवन के धुएं ने बहुतों की आंखें आनन्द के आसुओं से गीली कर दी थीं। ठीक है, तोला-भर सिंदूर मांग के बीचो-बीच कई दिनों तक जमा रहा। सब-कुछ ठीक है लेकिन स्त्री-पुरुष के बीच उम्र का बड़ा फासला किस तरह मखौल उड़ा रहा था विवाह के संस्कारों का। बाबू भभीखन सिंह को कानूनी तौर पर इस बलात्कार का हक हासिल हुआ। अब उगनी उनकी संतान को अपने लहू से पुष्ट बनायेगी।" (पृ० 41-42)

यह सब आर्थिक विषमताओं और अशिक्षा का परिणाम है। अर्थाभाव के कारण ही इन सुकुमारियों का जीवन नष्ट होता है। कन्या पक्ष वाले अनमेल वर से सैकड़ों की रकम लेते हैं और उन्हें उपहार में फूल-सी कन्याओं को आदर्श पत्नी के रूप में देकर अपने को निहाल करते हैं। 'रतिनाथ की चाची' का भोला पण्डित, 'नयी पौध' का खोखा पण्डित और 'पारो' का लूच झा इसी तरह के व्यवसाय में दक्ष हैं। वे कन्याओं को जानवरों की तरह बेचकर उनसे मोटी रकम लेते हुए वृद्ध वर को 'सूर्यवंशी' शीलागार 'कन्दर्प कुमार' बताकर विवाह के नाम पर उनका जिवह ही करते हैं। 'नयी पौध' के खोखा पण्डित के इस सरल व्यवसाय का ब्यौरा निम्नवत् है—

"यही कारण था कि रामेसरी को छोड़ बाकी छहों बेटियां खोखा पण्डित ने बेच डाली थीं—

महेसरी से उन्हे 1100 रु० मिले थे।
भुवनेसरी से 800 रु० मिले थे।
गनेसरी से 700 रु० मिले थे।
गुजेसरी से 1100 रु० मिले थे।
वानेसरी से 900 रु० मिले थे।
धनेसरी से 900 रु० मिले थे। और अब विसेसरी का नम्बर था। फसल तैयार खडी थी। कटने भर का विलम्ब था !" (पृ० 7)

आखिर में इस पन्द्रह वर्षीया अबोध बालिका को भी सत्तर वर्ष का वर मिथिलांचल की दूल्हों की पैंठ 'सौरठ' से नौ सौ रुपये मे तय होकर चला आ रहा है। विसेसरी को पता चलता है तो उसके बदन में काटे खून नही रहता—

"बिसेसरी बेखबर नही थी। उसे अच्छी तरह मालूम था कि नाना आज रात एक कसाई को ला रहे है, धूमधाम से अपनी नतनी या जिबह करायेंगे'''जब से उसने बूढे दूल्हे की बात सुनी है तब से उसकी कलेजी भुन रही है। अब तक अपनी बेचैनी को वह जब्त किए हुए थी, इसके बाद धीरज ने जवाब दे दिया। तन-मन की समूची ताकत बटोरकर उसने पैरो को लड़खड़ाने से बचा लिया, यही क्या कम था ?''''''वह अपने आप में जूझने लगी कि बूद भर भी आसू गिरने नही पाये।" (वही, पृ० 25)

और इस नारी के शरीर विक्रय का परिणाम रतिनाथ की चाची गौरी का वैधव्य, उग्रतारा का गृहत्याग, पारो की अन्त्येष्टि होता है। खोखा पण्डित की लड़किया भी दिन-रात अपने मा-बाप को कोसती रहती है—

"सभी बहिनें मां-बाप को सराप दिया करती थी। कोई गूगे के पल्ले पड़ी थी तो कोई बौड़म के पल्ले। कोई तीन जिला पार फेंक दी गई थी तो कोई पांच सौ कोस पर। उनमें से चार को भाग्य ने वैधव्य के बीहड जंगल मे डाल दिया था। एक पगली हो गई थी, एक को उसके आदमखोर पति ने किरासन तेल की मदद से जलाकर खाक कर डाला था।" (वही, पृ० 6)

इस तरह के वातावरण ने ही नागार्जुन की चेतना को झकझोर दिया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की इस विभीषिका पर गहरे चिन्तन से विचार किया है। उन्होंने वैधव्य को पुनर्विवाह मे परिणत कर नारी समाज को यातनाएं झेलने से बचाया है। इस माइने में नागार्जुन अपने समशील और पूर्ववर्ती उपन्यास लेखकों से पृथक भूमिका निभाते हैं। प्रेमचंद की तरह उनकी विधवाए अपने भाग्य की दुहाई देकर सेवासदन का निर्माण नही करती वे समाज से संघर्ष करती हैं। वह अपने मन के अनुसार जीवन यापन कर अपने दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करती हैं। उन्हें समाज की यह छिछली, निकम्मी और दकियानूसी प्रथा स्वीकार्य नही है। 'वरुण के बेटे' की मधुरी अपने जीवित पति को उसकी यातनाओं से तंग आकर छोड़ती हुई उस नयी महिला के आगमन का संकेत देती है जो ऐतिहासिक है और 'पति परमेश्वर होता है' जैसी थोथी मान्यता को ठुकराकर उसके जीवन का अपनी-अपनी इच्छानुसार रास्ता तय करती है—

"नही, अब वह कभी उस नशा-खोर बुड्ढे की लात-बात बर्दाश्त करने नही जायेगी …फिर से शादी कर लेगी किसी दिलेर, नेकचलन और मेहनतकश जवान से… और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नही गुजार सकती है क्या ?" (पृ० 109)

'नई पौध' में इस अनमेल विवाह को ठुकराने के लिए नागार्जुन गांव के पढ़े-लिखे नवयुवकों को सामने लाते हैं। वे पुरानी पीढी की इस कुत्सित बात को सुनते ही चौंक पड़ते हैं—

"पन्द्रह साल की बिसेसरी साठ वर्ष के चतुरानन चौधरी को ब्याही जाने वाली थी। दिगम्बर ने यह खबर सुनी तो उसे ऐसा लगा कि किसी ने भर-भर कलछी खौलता हुआ कड़ुआ तेल बारी-बारी से उसके दोनों कानो मे डाल दिया है।" (पृ० 14)

गांव का युवक समुदाय इस दाम्पत्य बधन पर आक्रोश व्यक्त करता है। वह इस विवाह को किसी भी कीमत पर सम्पन्न होने देने में नही है। यह पहली बार ग्रामीण चेतना नागार्जुन के ही उपन्यास 'नई पौध' मे अभिव्यक्त हुई है जिसमे इस कुप्रथा की जड़ो को हिला दिया है। विवाह स्थल पर दिगम्बर, माहे आदि अपने सभी सगी-साथियो को लेकर मारामारी पर उतर आते हैं। दिगम्बर ललकारता हुआ कहता है—

"बच्चन बाबू, यह बाबू साहेब जितनी देर लगायेंगे अशांति उतनी ही बढेगी। आप यह गाठ बाध लीजिए कि गाव का एक-एक नौजवान पिटते-पिटते बिछ जायेगा मगर यह ब्याह नही होने देगा – *लाज-शरम को धोकर यही पी गए हैं तो क्या हम भी* बेहया हो जाएं—बिसेसरी जैसी तो इनकी नतनी-पोती होगी—यह अभी सीधे नही मानेंगे तो बाधबूध कर और खटोले पर ठोककर इन्हें कल तक सोराठ पहुचा दिया जायेगा, इन्ही के खिलाफ कल नौजवानो का हम एक जुलूस निकालेंगे। समझ क्या रखा है इन्होंने आखिर ? (वही, पृ० 60-61)

इस तरह उस साठ साला महावर का गांव से ये चेतना सम्पन्न युवक बहिष्कार कर बिसेसरी का विवाह उसके समवयस्क वर वाचस्पति पाठक से कराते है जो कि दहेजविहीन, आडम्बररहित निहायत सादगी से सम्पन्न होता है। बिसेसरी अपनी मन-पसंद वर को पाकर आत्म-संतोष करती है—

"तब बिसेसरी ने जी-भर अपने दूल्हे को देखा। गेहुंआ सूरत का वह तरुण सौन्दर्य छोकरी को बड़ा मोहक लग रहा था—भरी-भरी सी पीठ, गोल-गोल बाहे, पुष्ट और मासल कंधे, गोल माथा, काले-काले भंवरों से बाल—" (वही, पृ० 140)

यह आजाद भारत के युवक संघर्ष का परिणाम है जिसने चालाक चौधरियो को नयी चुनौती देकर उनकी सारी चौधराहट मिट्टी मे मिला दी है। यह आधुनिक भारत की सच्ची नई पौध है जिसने ठूठो को श्रीहीन कर दिया है। डॉ० एन० रवीन्द्रनाथ ने इसे युवा वर्ग के संघर्ष का सुफल कहा है—

"उपन्यास मे इस समस्या का समाधान नई और पुरानी पीढी के सक्रिय संघर्ष में नई पीढ़ी की विजय के रूप में प्रस्तुत किया गया है।" (मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, 1979, पृ० 240)

इस अनमेल वर की प्रथा के पीछे आर्थिक कारण है। दहेज उसी का परिणाम है।

कन्यापक्ष को अपनी आर्थिक तंगी के कारण लड़कियों को अच्छा घर और अच्छा वर तलाश करने में कठिनाई होती है। इसी कारण उसे उम्र भर अनमेल वर के बन्धन के अभिशाप को भुगतना पड़ता है। परिवार में अशांति का सबसे बड़ा यही कारण है। 'पारो' उपन्यास मे इसका संकेत नागार्जुन ने किया है—

"मगर उससे क्या ? ब्याही लड़की जब तक सुसराल न चली जाए, उसके मा-बाप के लिए कुछ-न-कुछ परेशानी रहती ही है। कोजागरा (शादी के पहले साल आश्विन पूर्णिमा के दिन मनाया जाने वाला त्योहार) के भर-शोर में कमी हुई तो समधी-समधिन का राज। जड़काले मे भड़कदार रैंपट या शाल न देने से दामाद मुँह फुलाकर तुम्मा कर लेंगे। बात-बात मे उनके रूठने का डर।" (पृ० 40)

'उग्रतारा' उपन्यास के नायक कामेश्वर सिंह और नायिका उग्रतारा ने तो समाज को एक और नई दिशा से परिचित कराया है। कामेश्वर आज के समाज का वह आधुनिक व्यक्ति है जो गर्भवती विधवा को अपनी पत्नी बनाने में संकोच नही करता उसे सपूर्ण स्थिति का ज्ञान होते हुए भी अपना ऐतिहासिक चरण आज के समाज के अगले सोपान पर रख देता है। कामेश्वर के माध्यम से नागार्जुन सीख देते हैं कि जब पचास-पचास साठ-साठ साल के वृद्ध चार-चार पांच-पाच सतानों के पिता अपनी धूम-धाम से शादियां करते है तो अनचाहे वर को छोड़ने का नारी को भी पूरा अधिकार है। वह अपने मन के माफिक युवक के साथ रहने में कदम उठा ले तो कोई अचम्भा नही होना चाहिए। कामेश्वर उस नए आगामी समाज का सदस्य है जो इस तरह विवाहित और गर्भवती महिला को भी अपनी पत्नी बना लेने मे उसे बराबरी का दर्जा देता है—

"आज एक पुरुष ने गर्भिणी नारी के सीमंत में सिंदूर भरा था। धोखे में नही जानबूझकर। उसके होशो-हवास दुरुस्त थे, विवेक सजग था, आवेग या आवेश चेतना पर हावी नही था। सभी बातें उसे मालूम थी।" (पृ० 97)

नागार्जुन इस अन्तर्जातीय विवाह की एक और क्रान्तिकारी शुरुआत करते है। वे जातिवाद के घिनौने घेरे को तोड़ कर उसमे नवीन चेतना का संचार करते हैं। निम्न वर्ग के लोगों के साथ बैठना, खाना, रहना जातिवाद को समाप्त करने मे इतना सफल और कारगर नही है जितना कि अन्तर्जातीय विवाह। यद्यपि यह भारतीय पृष्ठभूमि मे अभी इतना सफल नही हो रहा है और देहाती जीवन मे तो यह और भी मुश्किल है। परन्तु फिर भी नागार्जुन यह सब जानते हुए भी इसकी शुरुआत चाहते हैं। आज नही तो कल अन्तर्जातीय विवाह जातिवाद को निर्मूल करने मे सफल सिद्ध होगा।

नागार्जुन के अन्तर्जातीय विवाह में सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि इसमे भावुकता नही है। उसमे प्रेमी और प्रेमिका का क्षणिक आवेश नही है। वे जानते हैं कि यह भावुकता और क्षणिक आवेश अस्थाई होते हैं। प्रारंभ में इनका मानसिक दबाव इतना भारी और भयंकर होता है कि व्यक्ति की चेतना को दबा देता है। लेकिन धीरे-धीरे यह जब शान्त होता है तो परिवार मे कलह और सम्बन्धो के बिखराव की स्थिति आती है। परन्तु नागार्जुन पारिवारिक बिखराव मे नही अपितु जुड़ाव मे विश्वास करते हैं। उसके अन्तर्जातीय वैवाहिक निर्णय परिस्थितियो की देन होते हैं। जीवन की विसंगतियों

मे जूझकर ही वे नया मार्ग अपनाते है। 'बलचनमा' की जय मंगला का दर्जी के लड़के के साथ चला जाना, 'अभिनदन' की मृदुला का अपने इन्टर कक्षा के साथी के साथ निर्वाह के लिए गृहत्याग उसी शृ खला का परिणाम है। नागार्जुन के स्त्री और पुरुष दोनों जंचे हुए होते हैं। 'बलचनमा' में लहेरिया गज का मुसलमान दर्जी और बाल-विधवा जयमंगला वर्षों से एक-दूसरे पर नजर रखकर ही एक-दूसरे के साथी होते है—

"लहेरिया गंज का एक नौजवान दर्जी हवेली के सारे कपड़े सीता था। गठीला और खूबसूरत मुसलमान। उसका मामा मधुबनी बाजार में सिलाई की दूकान किए हुए था। बूढ़े मालिक उसी से अपने कपड़े सिलवाते थे। हुनर सीखकर जब भाजा तैयार हुआ तो जनानी कपड़ो का नाप लेने के लिए हवेली के अन्दर आने-जाने लगा।—नया दर्जी, सिलाई बडी अच्छी करता था, छोटा था तभी से मालिकाइन उसे जानती थी। तो बैठक में ही अलग एक कोठरी के अन्दर दर्जी को सिलाई करने का हुकुम मिला। बार-बार, छः-छः रोज दो-तीन बार वह मालिक के यहा रह चुका था। मशीन आती थी और जाती थी। दर्जी को मजूरी भी मिलती थी, खाना भी मिलता था और नाश्ता-पानी भी—इसी बीच दोनों की नजरें चार हो गई। दो दिलो ने मिलने का अपना रास्ता भी निकाल लिया। बाहर किसी को कुछ मालूम नही, अन्दर-अन्दर कड़ाही मे गुड़ पगता रहा। अबकी बार दर्जी रफू करने के बहाने यो ही आया, मशीन लाने की फिर जरूरत ही क्या थी? दो दिन रहके रात को गायब हो गया, जय मगला भी गायब थी।" (पृ० 174)

'अभिनंदन' की विधवा मृदुला भी इसी तरह की स्त्रीपात्र है जो कि नामी-गिरामी अपार सम्पत्ति और सम्मान वाले माल मत्री पिता श्री नरपत सिंह के धन को ठुकराकर अपने दाम्पत्य जीवन के लिए अपने पुराने प्रेमी के साथ चली जाती है—

"कोठी के पिछवाडे होकर नौकरों के क्वार्टर के बगल से वह निकली। हाथ मे चमडे का छोटा-सा सूटकेस था। सड़क के किनारे बिजली की धीमी रोशनी मे मृदुला प्रगट हुई तो नीम की झुटपुटी छांह मे से साइकिल सवार एक युवक आगे बढ़ आया सूटकेस को उसने आगे लटका लिया। मृदुला पीछे कैरियर पर बैठ गई।" (पृ० 132-33) जाते समय उसने एक पत्र भी पिता के नाम छोड़ा था जिसे नागार्जुन सरीखे साहित्यकार ने अपने पाठकों को ईमानदारी के साथ दिखाया।

"पिताजी

इस कोठी में यह मेरी आखिरी रात है अब कभी मैं आपसे मिल नही सकूगी···मैं सदा के लिए आपसे बिछड रही हू···

प्रान्त में कोई भी शुभ कार्य नही जिसे आपके आशीर्वादों से वंचित होना पड़ा हो। सांड-सम्मेलन से लेकर साधु-सम्मेलन तक का उद्घाटन आपने किया है। अनाथालय, विधवालय, बहरो गूगो का स्कूल, पिंजरापोल, वानप्रस्थ आश्रम—जाने कितनी संस्थाओं को आपकी मदद मिलती रहती है। 'महिला मंगल समाज' तो खैर आपका अपना शिशु है। दसियों युवतियों ने आपकी छत्र-छाया मे वैधव्य के अभिशाप से छुटकारा पाया है।

लेकिन मैं ? मेरी तरफ क्या कभी आपने ध्यान दिया ? क्वार की अगली पूनम को मैं छब्बीस की हो जाऊंगी। अठारह की उम्र में मेरी शादी हुई। शादी के छह महीने बाद ही हवाई दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया। इन्टर के बाद आपने मेरी पढ़ाई छुड़ा दी। एक बूढ़े पण्डित जी रखे गए। जिनसे मुझे गीता, रामायण, उपनिषद, वेदान्त आदि पढ़ना पड़ता था—

गत वर्ष तक मुझे आखिर मां की ममता प्राप्त थी पिछले दिनों मेरी नकेल आपने चाची जी को थमा दी। मां वह माधवी की हो सकती है, मेरे लिए तो चुड़ैल से बदतर है यह औरत—।

भाई-भाभी को अपनी पड़ी रहती है, उन पर जब आपका ही कोई वश नहीं चलता तो मैं भला किस खेत की मूली हूं।

इन्टर का एक मेरा साथी बम्बई में रहता है। हम बीच-बीच में मिलते रहे हैं। एक मिल में वह टेक्नीकल एक्सपर्ट है, छः सौ पाता है—वह आया हुआ है मैं उसी के साथ जा रही हूं। विजय-दशमी के शुभ अवसर पर हमारी शादी होगी। आपकी हीरक जयन्ती हुई, मेरी यह ताम्र जयंती ही सही।

आपकी
मृदुला"

नागार्जुन इस नवीन सामाजिक शुरुआत को और आगे बढ़ाते हैं। उनकी नारियां मध्यकालीन बोधवाली 'मोहेन नारि नारि के रूपा' न होकर एक समाज-सेविका के रूप में सामने आती हैं। वे अपने वर्ग पर होने वाले जुल्म और तन शोषण से परिचित हैं। इसलिए शोषित और पीड़ित नारी को वे अपनी गोदी में लेकर संरक्षण देती हैं। उसे गन्दी और गलीय जिन्दगी से निकालकर स्वस्थ और आधुनिक समाज के वातावरण में जीने के लिए सहर्ष प्रस्तुत करती है। 'उग्रतारा' में कामेश्वर की भाभी इस आदर्श को प्रस्तुत करती है—गर्भवती उग्रतारा की मांग में भुवनेश्वरी अकेले ढंग की आधुनिक भाभी है जो कि अपने देवर कामेश्वर के हाथों समाज से टक्कर लेती हुई सिंदूर डलवाती है। वह जलन, ईर्ष्या और सामाजिक दुराग्रह की जगह उन्हें मुंह भर-भरकर आशीर्वाद देती है। वह समाज और रंगे सियारों पर अपनी नारी सत्ता को प्रदर्शित करती है—

"लुच्चे-लफंगे अपना ही मुंह काला करते हैं। हमारा-तुम्हारा मुंह तो शीशे से भी ज्यादा साफ रहेगा।" (उग्रतारा, पृ० 42)

और वही महिला नए भारत के युवक को भी प्रस्तुति में लाती हुई कहती है—

"कामेश्वर तुम्हें लेने आया है, तुम जरूर उसके साथ चली जाओ वह तुम्हें भी स्वीकार करेगा और तुम्हारे शिशु को भी स्वीकार करेगा। कामेश्वर नए भारत का नया युवक है, पुराने ढंग का छिछोर नौजवान नहीं है वह—" (वही, पृ० 42)

इसी तरह कुत्सित वातावरण में रहने वाली 'कुंभीपाक' की भुवन को कंपाउन्डर की बीवी विमला अपना सक्रिय समर्थन देती है। वह नहीं चाहती कि भुवन का अब और

शरीर विक्रय हो। वह भुवन को अपने घर में रखती हुई कहती है—

"भुवनेश्वरी की कलाई पकड़कर कपाउन्डर की बीवी ने दृढतापूर्वक कहा, अब तुझे कोई बेच नहीं सकता, न खरीद ही सकता है कोई। तुझ पर तो अब मेरा ही हक है। मैंने तुझे अपना दिल देकर खरीद दिया है। देखूं कौन मेरी बहन का गला काटता है।

स्वयं कम्पाउन्डर की बीवी निर्मला ऐसे परिवार की रही है जिसने शादी-विवाह सामाजिक परंपराओं को तोड़कर अन्तर्जातीय विवाह के रूप मे किया है—

"स्वस्थ-सुन्दर युवती (लड़कियों के गैर सरकारी माध्यमिक स्कूल की अध्यापिका) रूढ़ि के बाड़े से बाहर निकल कर संघर्ष की भट्टी मे तिल-तिल करके तपने वाले मा-बाप की संतान। बी० ए० बी० टी०, करके दो वर्ष अध्यापन। सदानद से परिचय— प्रोफेसर श्री सदानंद लाल। ब्राह्मण की लडकी और कायस्थ का लडका—दोनो मे घनिष्ठता—"इलाहाबाद के आर्य समाज मंदिर मे शादी—" (पृ० 5) वह भुवन को अब और नारकीय जीवन नहीं बिताने देगी उसके भाई और भाभी भी समाज से सघर्ष कर एक नयी दिशा के अन्वेषक हैं। अतः भुवन को उनके पास संरक्षण के लिए पत्र लिखकर नाम बदलती हुई भेज देती है—

"भइया के चरणों में निर्मला का प्रणाम। एक अनाथ लडकी आपकी शरण मे जा रही है। मुझे पूरा भरोसा है कि आप और भाभी इस लड़की को अपने परिवार मे शामिल कर लेंगे।

भइया, आपने बहुतों का उद्धार किया है। आपका हृदय विशाल है—मै बचपन से ही आपके स्वभाव को जानती हूं।

इन्दिरा नाम है, उम्र है उन्नीस की। जिला मुगेर की किसी मशहूर बस्ती मे पैदा हुई थी, घराना ऊंची नाक वालों का। पन्द्रह की उम्र में शादी हुई। दूल्हा पायलट था, उसी वर्ष हवाई दुर्घटना में जान गंवा दी। इन्दिरा का फिर वही हाल हुआ, घुटी हुई तबीयत के युवकों और आदर्शहीन अधेड़ों के बीच एक विधवा तरुणी का जो हाल होता है। गर्भ चार महीने का हुआ। एक अत्याचारी रिश्तेदार डाक्टरी इलाज के बहाने इन्दिरा को आसनसोल ले गया और धर्मशाला मे अकेली छोड़कर खिसक गया। तब से दो वर्ष इन्दिरा के कैसे कटे हैं, यह बात धरती जानती होगी कि आसमान जानता होगा—हम-आप तो अंदाज भी नही लगा सकते भइया!

लडकियों और औरतों की खरीद-बिक्री जिनका धधा था, ऐसे ही एक राक्षस के चंगुल से आपकी छोटी बहन इन्दिरा को छुडा लाई है झपट्टा मारकर, चील की तरह छीन लाई है—आप मेरी पीठ ठोकेंगे और भाभी मुझे इनाम देगी।" (कुंभीपाक, पृ० 62-63) और सदानन्द वास्तव में सदानन्द है, अपने नाम का धनी है वह। इस प्रताड़ित और शोषित महिला को पूरा सम्मान और संरक्षण दोनो पति-पत्नी की ओर से मिलता है—

"पत्र देखकर सदानन्द ने इन्दिरा की पीठ पर हाथ रखा। बोले थे, पिछली बातो को बिल्कुल भूल जाना। सोचो कि फिर से जन्म हुआ है—यहा आराम से रहो, पढ़ो और लिखो। बच्चों के साथ खेलो। बहुत सारी सहेलिया मिल जायेगी यहां तुम्हे—और

तभी मैं भाई साहब ने इन्दिरा को ममता के दायरे में समेट लिया और भाभी? भाभी ने तो संजीदगी और स्नेह का अनूठा परिचय दिया था पिछले कई दिनों के अन्दर। रजना ने इन्दिरा को इस तरह अपना लिया जिस तरह गंगा यमुना को अपनाती है। पिछले जीवन के बारे में एक भी सवाल नहीं पूछा था उसने···।" (वही, पृ० 61)

नागार्जुन का यह 'कुंभीपाक' उपन्यास वास्तव में नारी जीवन के अनेकों पहलुओं के संघर्ष को उद्घाटित करता है। उसमें तमाम शोषित और प्रताड़ित महिलाएं अपने बासीय जीवन से संघर्ष करने को उतारू हैं। उपन्यास की चंपा आदर्शवादी वाक्य कहती हुई—

"मर्द और औरत एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। एक की बोली दूसरे के लिए शहद है। एक की चितवन दूसरे के लिए बिजली है। उसकी गंध इसके लिए चंदन है। यह छू देगी तो ठूठ से टूसे निकल आवेंगे।" कुन्ती नारी की गुजरती हुई जिन्दगी को ध्यान में रखना वह समाज से प्रश्न करने लगती है—

"अगर ऐसी ही बात है तो क्यों औरतें बिकती हैं? क्यों उन पर डाक बोली जाती है? मामूली भूल-चूक पर औरतों को क्यों घर से निकाल देते हैं? चंपा बहन, हम क्या अच्छे घर की अच्छी बहुएं नहीं होतीं? मुझे और तुम्हें किसने बर्बाद किया।" (पृ० 87)

वह भुवन के निर्णय का स्वागत करती हुई औरत के दलाल शर्मा को थूकती हुई कहती है—

"शाबाश भुवन, शाबाश! उस खूसट को तुमने बड़ी सफाई से अंगूठा दिखा दिया, बलिहारी है! शर्माजी खूब छके! बड़े आये बाप और चाचा बनने वाले···! इस बुड्ढे की नाक में छल्ला डालकर, भुवन तुमने अपनी ही नहीं बल्कि सभी औरतों की नाक रख ली···" (वही, पृ० 88)

परन्तु कंपाउडर की बीवी निर्मला में तो गजब का साहस है। उसमें समाज-सुधार और नारी के प्रति अपार संवेदना है। वह अकेली भुवन (इन्दिरा) का ही कल्याण नहीं करती अपितु चंपा जोकि नारी शोषण के अनेकों मोड़ों से गुजरती है उसके प्रति भी वह सहानुभूति रखती है। वह उनकी गलीज जिन्दगी से उसे बाहर लाना चाहती है। वह इन्दिरा को दुबारा चंपा बुआ से मिलाने की इसलिए कोशिश करती है कि इन्दिरा की सवरी हुई जिन्दगी को देखकर उसके मन में भी कुत्सित समाज के प्रति घृणा पैदा हो। वह भी अपने जीवन को इन्दिरा के समान स्वाभिमान से जिए। अतः निर्मला को चंपा से इतने नीच और असामाजिक कार्य व्यापार किये जाने पर भी घृणा नहीं होती अपितु संवेदना है—

"देखो भाभी, बुआ से मिलना इन्दिरा के लिए जरूरी नहीं है मगर इन्दिरा का मिलना बुआ के लिए जरूरी है। इन्दिरा जिस नरक से बाहर निकल आई है बुआ अब तक उसी कुंभीपाक में गोते खा रही है। वह इन्दिरा को सामने देखेगी तो अपने अन्दर दुगुना साहस महसूस करेगी। दलदल से बाहर निकलने का उसका संकल्प और भी तीव्र हो उठेगा···अंधेरे में भटकता मुसाफिर यदि दूर कहीं ज्योति का आभास भी पा जाता है तो उसके पैरों में बिजली की फुर्ती आ जाती है।" (वही, पृ० 120)

उपन्यास में दानापुर के राय साहब भी इस गलीच जिन्दगी से छुटकारा पाने के लिए नारी को समता और समानता के आधार पर उत्तम जीवन बिताने और स्वाभिमान के साथ रहने की आधुनिक बात की पुष्टि करते हैं जोकि नारी समाज के लिए अनिवार्य है। उनके समाज के उत्थान का लक्ष्य है—

"बस यही आत्म-विश्वास मैं स्त्रियों में देखना चाहता हूं चम्पा! हम बड़ी जात वालों ने महिलाओं को पंगु बना रखा है। जीवन का सारा रस निचोड़कर सिट्टी बनाकर छोड़ दिया है···श्रम, प्रज्ञा, सहयोग, विवेक और सुरुचि सभी आवश्यक हैं चम्पा! जीवन में इन पांचों का समन्वय करना होगा। पुरुषों की ही बपौती नहीं है स्त्रियों का भी साझा है इनमें।" (वही, पृ० 130)

इस तरह नागार्जुन सहजता के साथ आधुनिक समाज की संरचना में संलग्न हैं जो कि अत्याचार और शोषण से मुक्त होकर समता और समानता के आधार पर टिका हो। डा० विजय बहादुरसिंह ने उसके उपन्यासों में अभिव्यक्त इसी दृष्टिकोण को एक नये समय का संकेत माना है—

"कह सकते हैं कि नागार्जुन अधूरी दुनिया के लेखक नहीं हैं। अतः वे न तो कोरे आदर्शवादी (कल्पनावादी) हैं और न ही कोरे यथार्थवादी। उनके उपन्यास किसी निश्चित राजनीतिक या सामाजिक चिन्ता से जन्म लेते हैं और किसी स्पष्ट इशारे के साथ खत्म होते हैं। (नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 125)

यह सच्ची बात है कि नागार्जुन ने वर्तमान पीढ़ी को अपनी कृतियों के माध्यम से इशारा किया है। वे जर्जर समाज पर प्रहार करते हैं, उसे समूचा नष्ट कर नयी व्यवस्था की आधारशिला रखना उनका उद्देश्य बनता चला जाता है। इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में 'नए समाज' का सृजन किया है। जिसमें नए दांपत्य सूत्र नई नारी के साथ जुड़े हैं। उनके ये सूत्र जर्जर परम्पराओं को तोड़ देते हैं। नागार्जुन मुसलमान से हिन्दू युवती का विवाह कराकर अन्तर्धर्मीय सौहार्द्र कायम करते हैं; वहीं विधवाओं के विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा ऐसी विधवाओं के विवाह भी कराते हैं जो पहले से गर्भवती हैं। उनका समाज भी इस परिवर्तन का स्वागत करता है।

यह वह स्थिति है जहां नागार्जुन प्रेमचन्द से आगे हैं। क्योंकि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में वर्तमान पर दृष्टि रखी। उन्होंने समकालीन राजनीति के परिप्रेक्ष्य में समाज की व्याख्या की है। परन्तु नागार्जुन ने सामाजिक अध्ययन में नूतनता का परिचय दिया है। बाल-विवाह, विधवा, दहेज, बहुपत्नी आदि जैसी समस्याएं आज भी है और उस समय भी थी परन्तु नागार्जुन इनकी व्याख्या आज के सन्दर्भ में वैज्ञानिक धरातल पर करते हैं। नागार्जुन प्रेमचन्द की तरह सामाजिक समस्याओं का हल 'सुधार' के रूप में न कर उसका स्थाई बन्दोबस्त करते हैं। उदाहरण के लिए विधवा समस्या को देखा जा सकता है। प्रेमचन्द की तमाम विधवाएं अनमेल वर का शिकार है जोकि कम उम्र में शादी हो जाने के कारण पति की मृत्यु से जीवन-भर कष्ट और सामाजिक प्रताड़ना भुगतती हैं। उन्हें सामाजिक सम्मान और स्वावलम्बन जैसी चीज समाज से प्राप्त नहीं होती। यद्यपि प्रेमचन्द की सहानुभूति इस वर्ग से बेहद रही और स्वयं ने एक विधवा से

उसके सामाजिक सम्मान के लिए विवाह भी किया परन्तु वे उसे अपने पात्रों मे सिद्धांत के तौर पर लाने में असमर्थ रहे। उनके नारी पात्रों ने भी उनकी न तो मदद ही की और न ही सहयोग दिया। प्रेमचन्द की विधवा अकेली समाज के एक कोने में सेवासदन खोलकर बैठी रही।

परन्तु नागार्जुन ने अपनी विधवाओं को सम्मान और सहयोग दिया। समाज के सामने उसे प्रतिष्ठा दी है जिसके फलस्वरूप पुरातनपंथी समाज को करारी मात देकर नवीन सामाजिक संरचना की आधारशिला रखी है। उनकी विधवाएं चेतनासंपन्न है। वे राजनीति मे सक्रिय हिस्सा लेती हैं। वे देश और समाज के मुद्दों की पहचान जानती है। 'रतिनाथ की चाची' की गौरी यही सब समझकर किसानों के अधिकार के लिए *ताराचरण को अपनी गरीबी की हालत में भी सूत कातकर चंदा देती है।* वह इसे 'देश का काम है दस का काम है' मानती है। वह समाज-सेवा में सबसे आगे आने वाली महिला है। अन्य विधवा महिलाओं के जीवन का तो नागार्जुन ने क्रांतिकारी समाधान 'पुनर्विवाह' कराकर प्रस्तुत किया है। इस पुनर्विवाह में उन्होंने कई आधुनिक महत्वपूर्ण कदम उठाए है जो प्रेमचन्द मे दृष्टिगोचर नहीं होते। नागार्जुन के पुनर्विवाह अन्त-र्जातीय है जैसाकि 'दुखमोचन' में कपिल और माया का है। गांव की पुरानी पीढ़ी की घनघोर खिलाफत के बाद दुखमोचन जैसा पात्र मैथिल ब्राह्मणी विधवा की शादी भूमि-हार से नित्यानन्द और टेकनाथ जैसे समाज सर्पों के रहते टमकाकोयली गांव मे सरेआम कराता है। यह वह शुरुआत है जिसमे वर्ग-विहीन समाज की रचना सम्भव है साथ ही एक नारकीय जीवन की इति कर उसके स्थान पर स्वस्थ विचारों का जन्म।

नागार्जुन ने इस अभिशप्त समाज का एक और क्रांतिकारी द्वार 'उग्रतारा' उपन्यास में खोला है जोकि हिन्दी उपन्यास मे आज तक देखने को नही मिलता। उगनी जैसे बाल-विधवा जोकि जीवन के एक मोड़ पर भमीखन सिंह से गर्भवती होकर भी अपने मनचाहे वर कामेश्वर को प्राप्त कर जाती है। और कामेश्वर भी "नए भारत का युवक है, पुराने ढंग का छिछोर नौजवान नहीं" गर्भवती उगनी को बिना किसी झिझक और समाज की परवाह किए उसकी सूनी माग मे सिंदूर डालकर उसे धर्मपत्नी बना लेता है। नागार्जुन *वैधव्य से पूरी तरह परिचित है। उसकी नारकीय जिन्दगी के गली-गलियारे उन्होंने* स्वयं जाकर देखे है। वे नही चाहते, कि विधवाएं बाजार में शरीर का सौदा करके पेट भरे, वह नही चाहते, कि नारी-निकेतन के मालिक लोग ओष्ट्य सहानुभूति देकर उनके साथ रंगीन रातें बिताते रहें, वे नही चाहते कि नारी समाज में उपेक्षित और नारकीय *वातावरण में रहे। इसलिए वे विधवाओं के पुनर्विवाह से कुत्सित समाज* की दीवार तोड़ने का दृढ संकल्प लेते है।

एक और बात इस लेखक मे अपने समकालीन और पूर्ववर्ती लेखको से भिन्न है। वह है नारी सगठन की। उन्होंने नारी संगठन के माध्यम से समाज की घिनौनी कुप्रथाओ का अन्त किया है। वे नारी के ईर्ष्या, जलन, डाह जैसे परम्परावादी दृष्टिकोण के शिकार नहीं है। ऐसा व्यवहार करने वाली नारियो की उन्होंने बड़ी बखिया उधेडी है। 'रतिनाथ की चाची' की दमयती, जनक किशोरी, शकुन्तला रामपुर वाली आदि की

नागार्जुन ने उनके दकियानूसी विचारों के कारण खूब खिल्ली उडाई है। परन्तु 'उग्रतारा' मे कामेश्वर की भाभी और 'कुंभीपाक' मे कम्पाउण्डर की बीवी निर्मला, प्रोफेसर सदानन्द की बीवी रंजना आदि महिलाएं स्वस्थ चिंतिका और आधुनिक विचार संपन्ना है। वे शोषित और समाज द्वारा प्रताड़ित 'उग्रतारा' और इन्दिरा जैसी नारियों को संरक्षण ही नही देतीं बल्कि उनके मनचाहे संकल्पो को पूरा कराती है। नागार्जुन ने यहा आधुनिक नारी की इस भूमिका को आधुनिक समाज के स्वस्थ विकास मे आदर का स्थान दिया है।

इस तरह यह साफ जाहिर है कि नागार्जुन का सामाजिक चिंतन अपने समकालीन और पूर्ववर्ती लेखको से अधिक आधुनिक है। वे समाज की समस्याओं के मूल पर चोट करके आधुनिक परिवेश के अनुकूल उन्हे समूल नष्ट करते है, वे वर्ग-विहीन समाज के पक्षपाती है। उनके तमाम उठाये गए कदम इसका प्रमाण हैं।

नई और पुरानी पीढ़ी का वैचारिक संघर्ष

नागार्जुन का चिन्तन उनके गहन अनुभव का परिणाम है। आधुनिक शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क के कारण उन्होंने वर्तमान समाज के बदलते हुए वैचारिक परिवेश को देखा है। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से आधुनिक समाज का प्रारूप बड़ी तेजी से बदल रहा है। आधुनिक शिक्षा ने युवा वर्ग के चिन्तन को नई दिशा देकर कुंठित मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगा दिए है। इन्हीं प्रश्नचिह्नों के कारण नई और पुरानी पीढ़ी का वैचारिक मतभेद उभरकर आ रहा है। प्रायः हर घर में बुजुर्गों को बच्चों से यह शिकायत होना देखा जा सकता है कि वह बड़ों की बात नही मानते और बच्चों को यह कहते और मुंह चिढ़ाते देखा जा सकता है कि अब वह जमाना लद गया जिसमे आपको एक रुपये के एक मन गेहू मिलते थे।

अतः इस बदलाव को नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत नई और पुरानी पीढ़ी का वैचारिक संघर्ष माना है। वे इस वैचारिक संघर्ष में पुरानी मानसिकता की थोथी मान्यताओ को नकारने वाले नई वैचारिकता से सम्पन्न युवा वर्ग का स्वागत करते है। नागार्जुन के युवक पुराने समाज की उन तमाम अंध-परम्पराओं, अंधविश्वासो और अन्धमान्यताओं को एक आंख से भी देखना पसन्द नही करते उनके लिए यह सभी निरर्थक हैं—

"समझा नही, हमारे गाव मे पण्डितों का बड़ा दबदबा था। राज ही उन्ही का था···अब मगर जमाना पलटा खा रहा है। पण्डितो और मालिकों के अपने ही घराने में यह सब नही चलता। दादा पूरब की ओर देखता है, पोता बिल्कुल पश्चिम की ओर खड़ा मूतता है। बूढ़े-बूढ़ियां मरते है, इसटीसन पर गाड़ी में उतरते समय पोते को अगर पता लग गया तो मूड मुड़ाने के डर से सीधे पश्चिम की राह लेता है। लौटती गाड़ी से

पटना-मुजफ्फरपुर चला आता है।" (वनचनमा, पृ० 47)

अतः इन नए मूल्यों के अनुपालन में युवा वर्ग आधुनिक परिवेश के साथ है। उनके हल को भी वह नये विचारों से प्रस्तुत करता है। परन्तु समाज की व्यवस्था पर तो वृद्ध समाज का गोध साम्राज्य है। वे अपने इस अधिकार क्षेत्र में किसी के हस्तक्षेप को तो क्या दृष्टिपात को भी बुरा मानते हैं। हर बात की प्रतिष्ठा उनकी मूछों के बालों से संपृक्त है। इन्हीं जटिलताओं में युवा और वृद्ध मानसिकता का संघर्ष होता है क्योंकि आज का हल आज के व्यक्ति के ही हाथ में है। अतः वृद्ध मानसिकता को आधुनिक परिवेश में पछाड़ लगाना ही स्वाभाविक है।

नागार्जुन ने दांपत्य जीवन की अनमेल विवाह पद्धति में 'नई पौध' और 'दुखमोचन' उपन्यासों में वृद्ध और युवा वर्ग की मानसिकता की टकराहट को प्रस्तुत किया है। वास्तव में समाज की ये दोनों ही स्थितियां बड़ी ही ज्वलंत है जिनमें नारी जीवन एक अभिशाप बन जाता है और पुरानी मानसिकता इसे यथास्थिति में रखती है। अतः इसके खिलाफ नई पीढ़ी का वैचारिक संघर्ष मुखरित हो उठता है।

नागार्जुन के 'नई पौध' में अनमेल विवाह के विरोध में युवा वर्ग का संगठन है जो कि खोखा पण्डित के मनसूबे पर पानी फेर देता है। खोखाई झा को अपनी कन्याओं को वृद्ध वरों के साथ बेचने का लम्बा अनुभव है। वह अब तक छह कन्याओं को बेचकर काफी रकम बटोर चुका है। और अब जीवन की अन्तिम इच्छा अपनी नतिनी बिसेसरी को बेचने की है। युवा वर्ग यह अच्छी तरह समझता है कि इस अनमेल विवाह का परिणाम आधुनिक युग में बड़ा ही भयानक होता है। कम उम्र की कन्या शारीरिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण अपने पितातुल्य वर के साथ सहवास में या तो अपने जीवन को समाप्त कर लेती है और नहीं तो वर महोदय दो-चार वर्ष में परलोकवासी हो जाते हैं। और फिर प्रारम्भ होता है उस बाल-विधवा का अभावों और अभियोगों का भरा हुआ जीवन जिसमें वह अपने को न जाने कहां-कहां समर्पित करती है। कहीं उसके अनैतिक गर्भ रह जाता है तो कहीं वह अर्थाभाव में वेश्या जैसा जीवन बिताती है। उसे महंगाई और लाचारी में न जाने कितने घरों में प्रवेश करना पड़ता है। अतः दिगम्बर माहे और दुर्गानन्दन जैसे युवक इसका जमकर विरोध करते हैं। वे अपने गांव में अब इस तरह का विवाह सम्पन्न न होने देने का वचन लेकर खोखाई झा के वृद्ध वर को गांव से भगा देते हैं। परन्तु खोखाई झा पक्का और घिसा घाघ है। वह माहे पर गालियां देता हुआ बरस पड़ता है—

"बाप चूल्हा फूंकते-फूंकते मर गया और तू हमारे घर में आग लगाने आया है''' जाता है कि नहीं यहां से सूअर कहीं का।" (वही, पृ० 48) लेकिन माहे कब इन बन्दर घुड़कियों को मानने वाला है। वह चेतना सम्पन्न है अतः इन निरर्थक बातों पर कोई ध्यान नहीं देता। वह वृद्ध के भांजे से कहता है—

"आप तो सुना है पढ़े-लिखे हैं। क्यों न अपने माता-पिता को समझाते हैं ? साठ साल की उम्र, पांच-पांच जवान बेटों के बाप'''छी छी छी छी ?" (वही, पृ० 49) खोखा पण्डित माहे की इन तथ्यपूर्ण बातों को सुनकर आगबबूला हो जाता है वह माहे पर अपने

पैर की जूती उतार कर मारने को फेंकता है और गालियों की बौछार प्रारम्भ हो जाती है—

"पण्डित दांत पीस-पीसकर मुंह टेढ़ा करके अनाप-सनाप बके जा रहे, दाहिने हाथ की मुष्टि मुद्रा बना-बनाकर और बाया हाथ से उसकी हत्थड़ पकड़-पकड़ के वह माहे को कह रहे थे—केला लेगा केला ? भोस और बाड़नर ? अपनी माँ के···।" (वही, पृ० 49)

परन्तु इस युवा वर्ग मे बेहद आक्रोश है। इस अन्याय के प्रति वे इस बुड्ढे पण्डित को घर के अंदर धकेल कर बन्द करके उस वृद्ध वर की हालत खराब करते है और उसे बिना विवाह के गांव से जबर्दस्ती विवाह मण्डप से उठाकर भगा देते है। और कुछ दिनों बाद विसेसरी का विवाह उसके समवयस्क चेतनासम्पन्न युवक वाचस्पति से कराकर अनमेल विवाह को समशील विवाह में बदलते है। गांव का वृद्ध समाज वर-वधू को आशीर्वाद देता है। और वाचस्पति तथा विसेसरी के आदर्श दाम्पत्य जीवन की शुरुआत हो जाती है। और इस तरह गांव में नई पीढ़ी की नई पौध का रोपण हो जाता है। यह वास्तव मे वृद्ध समाज की थोथी और कुत्सित परंपरा पर नयी पीढ़ी का प्रहार है जिसे उसने एक ही झटके में तोड़कर फेंक दिया है—

"वाचस्पति से बिसेसरी का विवाह कराकर लेखक नई पौध की चेतना की संभावना की ओर सकेत करता है और इस प्रकार नई पौध प्राचीन और नवीन मूल्यों का संघर्ष है।" (डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, 1976, पृ० 140)

'दुखमोचन' में भी विधवा के पुनर्विवाह को लेकर टमका कोयली के वृद्ध बड़ा बावेला मचाते हैं। वे इसे अधर्म होने की संज्ञा देते है टेकनाथ और बाबू नित्यानंद दुखमोचन द्वारा उठाये गए इस कदम के सख्त विरोधी हैं। टेकनाथ समाज के चौधरी नित्यानन्द को इसकी प्रथम सूचना देकर उनकी रात की नींद गायब कर देता है—

"गांव की नाक कट रही है, नित्या भाई, वेणी माधव की बहन का ब्याह हो रहा है फिर से।—नित्याभाई यह दुखमोचन जो न करे सारी खुराफात अकेले उसी के दिमाग की उपज है।" (पृ० 90)

दमा के मरीज वृद्ध नित्यानंद यह सुनकर सफेद पड़ जाते हैं वे इस विधवा के पुनर्विवाह को न जाने कौन-सी दैवी आपत्ति समझते हैं। वे घायल सांप की तरह अकड़ते हुए टेकनाथ से अपने भीतर की बात स्पष्ट करते हैं—

"मैं तो बूढ़ा हूं मगर तुम लोग क्यो नहीं दुखमोचन की नाक में नकेल डालते हो ! उसे न किसी का लिहाज रह गया है, न डर। समूचा गांव उसकी मुट्ठी में है।" (नई पौध, पृ० 91)

इसके बाद टेकनाथ के साथ बैठकर नित्यानंद के विचारों की चक्की चलने लगती है। दुखमोचन द्वारा किया जाने वाला यह कार्य वृद्ध नित्यानंद के अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। वह अपनो अवस्था को आज खतरा मान रहे हैं—

"हे रावणेश्वर बम्भोलेनाथ, यह कैसा जमाना आया है जात-पात और धर्म-कर्म पर संकट ही संकट लदता चला आ रहा है—कल के छोकरे हम बूढ़ों की नाक में कौड़ी बांध

रहे है। चालीस-पैंतालीस की उमर के बाद सिर्फ बाल ही पकने लग जाते हो ऐसी बात नही, बल्कि अपमान और तिरस्कार भी शुरू हो जाता है। घर के लड़के बात नही मानते हैं—अच्छा हो दुखमोचन हमारा गला घोंट दे—।" (दुखमोचन पृ॰ 92)

अकेले नित्यानद ही नही स्वयं वेणीमाधव के ताऊ इस विधवा विवाह के खिलाफ है। उनके कानों मे जब यह भनक पड़ती है तो वे आगबबूला हो उठते है गुस्से मे आकर घर से छड़ी लेकर दुखमोचन की पिटाई करने लगते हैं—

"पण्डित लौटे तो गुस्से के मारे थर-थर कांप रहे थे। पानी भरा लोटा दालान के बरामदे मे पटक दिया और छड़ी संभालकर अन्दर हवेली में आ गए। ताऊ तेजी से आए और दुखमोचन पर अंधाधुन्ध छडी चलाने लगे—चाण्डाल, पापी, विधर्मी; मुंह से यही तीन सम्बोधन निकल रहे थे।" (वही, पृ. 98)

लेकिन दुखमोचन की स्वस्थ विचारधारा और दूरदर्शिता से विधवा माया का पुनर्विवाह कपिल के साथ आर्य-समाजी पद्धति के अनुसार संपन्न होता है। वह वैधव्य को समाज की भयंकर बीमारी मान कर ही उसका निदान पुनर्विवाह मे करता है।

वर्गीय संघर्ष और उसकी सामाजिक स्थिति

वर्तमान देहाती समाज अब शहर और आधुनिक शिक्षा से जुड़ जाने के कारण नए रूप मे बनते जा रहे है। उनमें वर्गीय चेतना उत्पन्न हो रही है। आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता मे जाति-सत्ता वर्ग-सत्ता के रूप मे, क्या शहर क्या देहात, हर जगह फैलती जा रही है। गरीब चाहे किसी भी वर्ग का हो उसका अपना एक वर्ग सर्वहारा-वर्ग है तो दूसरी ओर निम्न जाति का व्यक्ति यदि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है तो वह उच्च वर्ग मे गिना जाता है। इसका असली रूप हमें उसके यहा सम्पन्न होने वाले रीति-रिवाजों के बीच बड़ी आसानी से देखा जा सकता है। धनी वर्ग अपने तमाम सामाजिक उपक्रमो मे अपने ही वर्ग के धनी व्यक्तियो को आमंत्रित करता है चाहे वे किसी जाति, किसी वंश अथवा किसी धर्म को मानने वाले हो। वह जाति के लोगो को तो मात्र लोक-लज्जा के कारण ही दो-चार की संख्या मे संपर्क मे लाता है। अतः यह वर्ग-सत्ता आज समाज मे जहा एक व्यवस्था को जन्म दे रही है वही इसने संघर्ष का बीज भी बो दिया है।

आधुनिक शिक्षा के परिणामस्वरूप चेतना के प्रचार से प्रत्येक व्यक्ति इसी बीच रहकर शत्रु और मित्र के संबंधों को पहचान रहा है। वह ऊपर उठने के लिए अपने शत्रु से संघर्ष करता है तो अपने सगठन को मजबूत करने के लिए अपने मित्रों से सहयोग की अपील करता है। नागार्जुन समाजवादी चेतना के अनुयायी हैं अतः उनकी कृतियों मे वर्गीय संघर्ष की भूमिका को प्राथमिकता के साथ लिया गया है।

'बलचनमा' उपन्यास मे बलचनमा इस वर्ग-विभाजन को बड़ी सहजता के साथ

प्रस्तुत करता हुआ अपने शोषित वर्ग और दूसरे शोषक वर्ग की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालता हुआ कहता है—

"अच्छा तो भगवान करते ही है ? चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूर कर फांकती थी, यह भी भगवान ठीक करते थे। और मालिक लोग कनक जीर, और तुलसी फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही और चटनी खाते थे सो यह भी भगवान की लीला थी।" (पृ० 16)

बलचनमा की इसी दबी चेतना को तब एक दिशा मिलती है जबकि उसकी बहिन रेबनी पर मालिक बलात्कार करते हैं। यद्यपि बलचनमा के दिन उन्हीं मालिकों की जूठन से कटते हैं लेकिन वह अपनी आबरू पर दाग लगने के कारण तिलमिला जाता है। उसकी मां उसे पहली बार संघर्ष के रास्ते पर उतारती हुई कहती है—

"बबुआ बालचन ! मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं।" (वही, पृ० 76) बलचनमा को अन्याय के खिलाफ ये शब्द पहली बार सुनने को मिलते हैं तो उसकी छाती बांसों उछलने लगती है और वह सीना ठोक कर सामाजिक अन्याय के खिलाफ कहता है—

"कैद काटूंगा, फांसी चढूंगा, गांव से उजड़ जाऊंगा, मगर इस शैतान के आगे सपने में भी सिर नहीं झुकाऊंगा—बेशक मैं गरीब हूं। तेरे पास अपार संपदा है, कुल है, खान-दान है, बाप-दादे का नाम है, अड़ोस-पड़ोस की पहचान है, जिला-जवार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है। मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूंगा। अपनी सारी ताकत तेरे विरोध में लगा दूंगा। मां और बहन को जहर दे दूंगा लेकिन उन्हें तू अपनी रखैली बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा।"(वही, पृ० 81-82)

अतः गरीब बलचनमा स्वाभिमान के लिए संघर्ष पर उतर आता है। अन्याय के खिलाफ लड़ना उसका धर्म ही हो गया—

"बलचनमा ने स्कूल में पढ़कर मार्क्सवाद नहीं सीखा। उसके जीवन की कटु अनुभूतियों ने उसे मार्क्सवाद सिखाया। वह तपकर सोना बना। वह मालिकाइन की धमकियों से नहीं डरता। प्रलोभन उसके रास्ते में बाधा नहीं बन सकते।" (डॉ० कुंवर-पाल सिंह: हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 100)

और वह अपने वर्गीय संगठन को मजबूत कर इस संघर्ष की मुहिम को आगे बढ़ाने में लग जाता है। उसे ज्ञात है कि इन आततायियों के जुल्म के किले को अकेले उस जैसे असहाय और निर्धन व्यक्ति नहीं तोड़ सकते। जिस तरह स्वार्थ के लिए ये बाबू लोग एक हो जाते हैं वैसे ही वह मजदूरों को एक होने की आवश्यकता मानता है—

"जैसे अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए बाबू भइया सब एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा झंझट मचा रहे हैं। उसी तरह जन बनिहार, कुली मजदूर और बहिया खवास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भइया से लड़ना पड़ेगा।" (बलचनमा, पृ० 94-95)

बलचनमा अब जाति की नहीं वर्ग की सत्ता का हिमायती है। उसके लिए अब

समाज मे दो ही वर्ग हैं शोषक और शोषित। अतः शोषक के विरुद्ध उसका यह पहला आह्वान है जोकि उसने अपने वर्ग शत्रु को पहचान कर किया है—

"इस तरह बलचनमा पहले तो शत्रुओं की पहचान करता है और फिर लड़ाई (संघर्ष) के रण कौशल को तय करता है।" (डॉ० रमेश कुन्तल मेघ; क्योंकि समय एक शब्द है, पृष्ठ 290)

'रतिनाथ की चाची' मे गौरी चाची किसानों की संघर्षवाहिनी के लिए मना करने पर एक कम्बल देती हुई कहती है—

"यह दस का काम है। देश का काम है। गरीबों का यज्ञ है। मेरे पास और है ही क्या, जो दूगी।" (पृ० 93)

'दुखमोचन' मे काम करने वाली घरेलू महरिया अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए असंतोष करती हैं। बढ़ती हुई मंहगाई से वे भी त्रस्त हैं अतः अपनी मजदूरी को वह कम समझती हैं और अधिक पगार पाने के लिए वे असंतोष व्यक्त करने का रास्ता अपना लेती हैं। इस बात को दुखमोचन की भाभी स्पष्ट करती है—

"सिर्फ पानी भरने पर एक रुपया और बरतन बासन मांजने, झाड़ू-बुहारी करने पर अठन्नी और···यबुआन शहर का हाल तो तुम्हें ही मालूम है, मगर देहात में भी अब चीज-बस्त के दर-भाव खूब ऊँचे चढ़ गए हैं···इन्होंने भी अपनी मेहनत के रेट बढ़ाने का इरादा कर लिया है।"(पृ०76)

नागार्जुन पुजारी वर्ग पर भी दृष्टि रखते हैं। उनकी ढोंग लीला को वे अच्छी तरह पहचान कर उनके वर्ग मे उनके लोग ही आपस की बातो का बयान देते हैं। कल तक जो ढोंग, आडम्बर और चमत्कार में डूबा हुआ बाबा था, जमनिया का बाबा, उपन्यास में उसके जीवन समाप्त करने की योजना वही के एक पुजारी बाबा मस्तराम द्वारा बनाई जाती है। वह बाबा की नीच प्रवृत्तियो और गन्दी आदतो से विद्रोह करता है—

"मैं देखूगा जेल से छूटने के बाद यह बाबा किधर जाकर बैठता है। मै देखूगा किस तरह फिर से अपनी जटाओं के अन्दर जू पालता है, मैं देखूंगा किस तरह पाकिस्तानी और चीनी जासूस इस जटाधारी के रंगीन चोगे की आड़ मे पनाह पाते हैं।" (पृ०84)

इस तरह नागार्जुन के उपन्यासो मे उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के मित्र और शत्रु के रूप मे वर्गों की आपसी टकराहट मिलती है। यह टकराहट एक नये निर्माण के लिए अनिवार्य होकर आयी है। अतः समाज में संघर्ष के मुद्दों की शुरुआत कई स्तरो पर है। नागार्जुन ने बड़ी बारीकी से उन्हें पकड़ा है। उन्हे एक दिशा दी है। अपने इसी चिंतन पक्ष पर नागार्जुन प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं।

धर्म का आधुनिक स्वरूप और उसकी विद्रूपताएं

धर्म से जमींदार और पूंजीपति का लगाव आजकल आत्म-शुद्धि के लिए नहीं है। उनके

धर्मात्मा बनने की प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरित हो यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। पूजीपति मंदिर, मठ और धर्मशालाएं कई दृष्टियो से बनवा रहा है। सबमे पहला कार्य वह इस धर्म ध्वजा की आड़ में खड़े होकर सामाजिक सम्मान अर्जित करता है। इस सामाजिक सम्मान की काली छाया वह जनता पर ऐसी डालता है कि वह कुछ भी नही देख पाती। और मंदिर में रखे भगवान और बैठे पुजारी के साथ-साथ सेठजी के भी चरण स्पर्श किए जाते हैं। दूसरे, धर्म के नाम पर वह बड़े-बड़े काले कारनामे करता है। काला बाजारी, तस्करी, लड़कियों की खरीद-फरोख्त वहां खुले आम होती है। जिसमें महंत का सबसे अधिक प्रतिशत बंधा हुआ होता है। तीसरे, मठ-मंदिरों आदि के बनवाने से सरकार की ओर से भारी 'इन्कम टैक्स' में छूट मिलती है अतः वह अपने काले धन को मंदिर मे लगाकर पुनः काले धन्धे में जुट जाता है। भारत के बड़े-बड़े पूजीपति इस बात का उदाहरण है। हर बड़े शहर में उनका एक मंदिर और धर्मशालाएं सिर्फ इसीलिए हैं कि वे सरकार से धर्म पर मिलने वाली तमाम सुविधाएं हासिल करें और उनका दुरुपयोग अपने उद्योगों मे कर सकें। इसलिए वह मठ पर ऐसे पंडे और पुजारियों को रखते हैं जो सबसे पहले उनके घर 'प्रसाद' दें, उनकी उंगलियों पर नाच नाचें। मंदिर मे भगवान की मूर्ति के साथ उनके पूर्वजो की तस्वीर दीवार पर लटकाएं।

यही स्थिति बड़े भूस्वामी और जमीदार की है। जमीदारी उन्मूलन के बाद उन्होने फाजिल जमीन को घेरने के उद्देश्य से मठ और मंदिरों का सृजन शुरू कर दिया। गाव की हजारों एकड़ परती जमीन पर एक मठ बनाकर उस पर हर रोज रामनामी कीर्तन होते हैं। शहरों मे भी यही स्थिति बनी हुई है। चौराहो पर फाजिल जमीन पर चार-चार ईंटों के नए-नए देवालय लाल ध्वजा के साथ निर्मित हो जाते हैं।

अतः आज धर्म एक नैतिक कार्य न होकर एक शक्ति के रूप मे उभरा है। धर्म से जुड़कर जितना कुकर्म और शोषण किया जा सकता है वह क्षम्य है। भगवान के नाम पर किए गए सभी व्यभिचार वहां दिन-रात हो रहे हैं। भारत का शिक्षित और अशिक्षित समाज धर्मलीला में बहुत ही अंधविश्वासी है। धर्माधिकारी, मठाधीश, साधु-संत अनेक जालसाज इस धर्मभीरु समाज को आज बीसवीं शती के अन्तिम चरण मे भी जहां मानव सभ्यता धरती और आकाश को मिला चुकी है झासा दिए जा रहे हैं। अपनी अमानवीय एवं निर्लज्ज करतूतों पर आध्यात्मिक दुशाला ओढ़कर इन मठाधीशों ने अपना बहुमुखी स्वास्थ्य लाभ किया है। आशीर्वाद के रूप मे उन्होंने दोनों हाथ जनता के सिर पर रखकर उसकी आंखों पर रख दिए हैं। जिससे उसे कुछ दिखाई नही पड़ता।

नागार्जुन ने धर्म की इस उभरती हुई शक्ति और उसके साथ जुड़े हुए शोषण के अनेकों रूपों को देखा है। नागार्जुन ने बचपन से ही देववाणी संस्कृत का अध्ययन किया है, बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने से मठों की आन्तरिक स्थिति को पहचाना है। इसलिए उन्होंने आधुनिक धर्म की भूमिका को भलीभांति परखा है। अतः लोगों के अन्धविश्वास और परंपरागत रूढ़िगत मान्यताओं के बीच मे से ही उन्होंने प्रवीन चेतना का अंकुर निकाला है। 'बलचनमा' के अन्तर्गत बाबू जशोदानंदन का पुरोहित, धर्म की व्याख्या

नितांत स्वार्थ मे लिप्त होकर कर रहा है। पुरोहित जी उनके यहां दिन-रात बैठक लगाते है सुरती फाक-फाक कर पेट का हाजमा दुरुस्त कर रहे हैं। वे कर्म की व्याख्या धर्म के रूप में न कर मालिक और मजदूर के संदर्भ मे करते हैं—

"जो बहिया (गुलाम) महले (स्वामी) को प्रसन्न रखता है उसके लिए स्वर्ग मे अमृत की धार बहती है। अरे जसोधर बाबू, मट्टी का ठहरा शरीर गिरता है तो खाक हो जाता है। समझदार वह है जो इस चोले को पाकर कुछ कर जाता है।" (बलचनमा, पृ०14)

धर्म के आवरण मे लपेट कर कही गई यह बात कितनी विचित्र है। पण्डित जी केवल मजदूर को ही चोला पाने वाला समझ रहे है, उसका शरीर ही जैसे मिट्टी का है, केवल उसी के कर्मों के आधार पर स्वर्ग और नरक का निर्णय है। बाबू जशोदानंदन और स्वयं पण्डित जी को लग रहा है कि उनका चोला दूसरा है जिसके लिए हर प्रकार के कुकर्म करने पर भी स्वर्ग का दरवाजा खुला हुआ प्रतीक्षित है।

वास्तव मे यह पण्डित जी की अपनी बातें नही हैं। इसके पीछे उनकी स्वार्थ-वृत्ति जुड़ी हुई है उन्हे ज्ञात है कि बलचनमा की तरफदारी करने से उन्हे कुछ भी पल्ले नही पड़ेगा, हानि ही हानि है। क्योंकि बलचनमा गरीब है उसके पास दान-दक्षिणा देने के लिए कुछ नही है। उसकी रिक्त हस्तता उसे स्वयं ही भूखों मारे डाल रही है। इधर, बाबू जशोदानंदन गांव के बडे भूस्वामी है, उनका आस-पड़ोस मे नाम है। अचल सम्पत्ति के नाम पर हजारों बीघे खेत, बाग तालाब है और चल सम्पत्ति में हजारों का लहना तगादा, सवाया-ड्योढ़ा चल रहा है? यों कहिए कि उनकी कुटिया मे लक्ष्मी जी विश्राम कर रही है अतः पडित जी को इस घर से थोडा नही बहुत कुछ प्राप्त होने की आशा हर दिन लगी रहती है। इसीलिए वे बलचनमा और उसकी विधवा दादी को धर्म का अफीमी नशा देकर स्वर्ग-नरक के दरवाजे की बात करते है। साथ ही विधवा को लात और जूते खाकर पवित्र होने वाली जाति बताते है।

आज कल जहां तक स्वार्थ सिद्धि हो सकती है वहां बड़ी दूर तक धनवान व्यक्ति धर्म के प्रति बड़ी गहरी आस्था दिखाते हैं। उसका अक्षरशः पालन करने की कोशिश स्वयं तथा बच्चो तक से होती है। राधाबाबू की बहिन उन्ही लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। बलचनमा के ककहरा सीखने पर उसे इसलिए आपत्ति है कि एक तो वह उनका समवर्गी न होकर नौकर है, दूसरे निम्न जाति का है, शूद्र है। अतः वह अपने वयोवृद्ध ससुर से धर्म मे मतलब की बात अच्छी तरह सुनकर याद रखती है—

"छोटी जाति वालों को जो एक आखर भी ज्ञान देता है उसका अपना तेज घटता है, और जो कोई शूद्र को समूची पोथी पढ़ादे। उसके पित्तर स्वर्ग छोडकर नरक मे रहने को मजबूर होते हैं।" (वही, पृ० 127)

उपन्यास मे यह सामाजिक धर्म का दूसरा उद्घाटन है। यहां धर्म की आड़ मे उच्च वर्ग की मानसिकता का परिचय है। उच्च वर्ग की यह कोशिश आजकल बडे जोरों मे निरंतर जारी है कि छोटा आदमी सदैव उनके नीचे दबा रहे। यद्यपि उस गरीब को शासकीय संरक्षण प्राप्त है परन्तु उसका सामाजिक शोषण दिन-रात हो रहा है। वह बडे

लोगों के बराबर न आ सके इसलिए उसके विकास के तमाम रास्ते रोक दिए जाते हैं। आजकल हरिजनों, आदिवासियों, पिछड़े वर्ग के लोगों, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लोगों को जिन्दा जलाने, घर फूंक देने के पीछे यही ईर्ष्या काम कर रही है। वे उनके पास रहते हैं वड़े घर के लोगों को यह अच्छा नहीं लगता। क्योंकि उनकी शान घटती है। ये गरीब हैं अच्छा खा नहीं सकते, पहन नहीं सकते इसलिए उनके दरवाजे के सामने ये और इनके बच्चे भूखे-नंगे घूमेंगे तो उनकी शान में बट्टा लगेगा, गरीबों के मैले कपड़ों और पसीने से लथपथ शरीर की दुर्गन्ध इनको सह्य नहीं है अतः उन्हें अपनी आंखों की दिन-रात की किरकिरी न बनाकर उखाड़ देना ही बेहतर समझते हैं। यदि वे शासकीय संरक्षण में पढ़ रहे हैं तो उन्हें नौकरियों आदि में अच्छा स्थान न मिले इसलिए वे इनके विकास के तमाम रास्ते रोके देते हैं उन्हें दिग्भ्रमित करने के लिए उनके शुभचिंतक बने भी रहते हैं।

नागार्जुन ने गांव में धर्म को कृषि के साथ जोड़कर एक बड़ी शक्ति के रूप में माना है। धर्म गांव के जमींदार का कवच के रूप में काम कर रहा है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद फाजिल जमीन को हड़पने के लिए हर हथकंडे अपनाते हुए धर्म के नाम पर यह भी भीतरी पैंतरा वह गांव में चला रहा है। यह भूस्वामी और पूंजीपति एवं सामंत की मिली-जुली भूमिका का परिणाम है। नागार्जुन इस तथ्य का अनावरण अपने 'जमनिया का बाबा' में करते हैं—

"जमनिया का मठ कोई परंपरागत मठ नहीं है। आज से दस बारह वर्ष पहले वहां कुछ नहीं था, वीरान था। जमींदारी, ताल्लुकेदारी-प्रथा के उन्मूलन का कानून पास हुआ तो जमनिया और लखनौली के दो-तीन भूस्वामियों ने मिलकर ज्यादा-से-ज्यादा जमीन हड़पने के लिए रातों-रात 'जमनिया मठ' की स्थापना कर डाली। नारायणी नदी जहां नेपाल की तराई से नीचे उतरती है वहीं, उत्तर प्रदेश और बिहार प्रान्त भी आपस में मिलते हैं, उस कछार भूमि से वे एक जटाधारी औघड़ बाबा को लिवा लाए। जमींदारों ने उसी विचित्र व्यक्ति को अपने मठ का महन्त घोषित किया।" (पृ० 103)

सामंती समाज भी इस पुण्य काम में पीछे नहीं है। वह भी धर्म के नाम पर अपने को कुर्बान कर रहा है। शिवनगर स्टेट की महारानी की जमनिया के मठ से संपृक्तता इस वर्ग का बानगी बतौर उदाहरण है। महारानी जमनिया के मठ पर होने वाले ढोंग और आडम्बर को वहां रहकर संपन्न कराती है—

"मैं भी सत्याग्रह करूंगी। खाना तो छोड़ ही दूंगी, पानी भी नहीं लूंगी···आप समाधि पर चाहे महीनों बैठें, लेकिन कम-से-कम फलाहार तो अवश्य लें। असाढ़ का मेला भी जमने दें। बाजार वालों से मेले की तैयारी या हवन पूजन-लंगर आदि के लिए एक दाना न लिया जायेगा न एक पाई! कुल खर्चा इस बार शिवनगर स्टेट देगा, बस, अब आपकी कृपा चाहिए···वह मठ की अतिथिशाला के उस खास हिस्से में ठहराई गई थी जो श्रीमती के लिए ही तैयार हुआ था। टोकरी भर मोमबी साथ लाई थी। खुद से उन्होंने रस निकाला था।" (वही, पृ० 27)

प्रत्येक धर्ममठ से स्वार्थी लोगों का जुड़ाव स्वाभाविक होता है। पूंजीपति, सेठ, साहूकार, अपने कालेधन को सफेद कराने के चक्कर में धर्मध्वजा की शीतल छाया में करवटें बदलते है। आजकल आयकर और बिक्रीकर से बचने के लिए दान-लीला का यह स्वांग रचाया जाता है परन्तु मठो से चढावे के तौर पर होने वाली आमदनी का कोई हिसाब-किताब नही होता। जमनिया के मठ से होने वाली आमदनी और लोगों की बढ़ती औकात तथा परिवार के पनपने का भण्डाफोड़ नागार्जुन औघड़ बाबा के *आत्म-विश्लेषण से करते हैं—*

"यह क्या मेरी जटाओं का ही जादू नही था कि भगोती ने अपनी चारों लड़कियों की शादी मे लाखों रुपये खर्च किए। लालता ने अपने बेटों को डॉक्टर और इंजीनियर कैसे बनाया। सेठ विधीचंद की तोंद तिगुनी किस तरह हुई? ठाकुर शिवपूजन सिंह ने *ट्रेक्टर कहां से खरीदा? राम जनम और सुखदेव की क्या हैसियत थी दस वर्ष पहले?"* (वही, पृ० 143)

नागार्जुन ने 'जमनिया का बाबा' उपन्यास में 'आत्म-विश्लेषण' के माध्यम से सच्चाई को स्वयं मठ पर तैनात योगियों और योगनियों के मुखारविन्द से ही उगलवाया है। साधु-महात्मा अपनी सिद्धई को समाज मे जमाने के लिए 'नर-बलि' देते हैं जिसके लिए मठ पर उत्सव मनाया जाता है। नर-बलि का वह नाटक जिस ढंग से खेला गया वह बड़ा ही हृदय-विदारक है। छह महीने का शिशु असहाय महिला लक्ष्मी की गोद से इन संतों की ख्याति बढ़ाने के लिए बलि का पात्र चुना गया, मठ की योगिनी इमरतिया आत्म-विश्लेषण मे सोचती है—

"क्वार के महीने में उस वर्ष मठ के अन्दर धूमधाम से दुर्गापूजा हुई थी।···महा अष्टमी की रात मे, देवी की प्रतिमा के सामने छह महीने का एक शिशु खड़ा किया गया। उसकी कमर मे रेशमी वस्त्र का लाल टुकड़ा लपेटा हुआ था। गले मे लाल फूलों की माला थी। माथे पर सिंदूर का टीका था, पूजा के मंडप से बाहर जोरों से बाजे बज रहे थे। नगाड़े घड़ियाल सिंगा, मादर झाल, करताल, शंख···हजारों की भीड़ थी अलग मैदान में चारों तरफ मेला और बाजार। बकरी के बच्चे की तरह आदमी के उस बच्चे का सिर धड़ से अलग कर दिया गया। खून के फव्वारे देवी की तरफ छोड़े गए। शिशु-मुंड को देवी के चरणों में महिषासुर के पास डाल दिया गया। *पीले वस्त्रों में पुजारी* जैसा दिखने वाला वह आदमी तलवार लिये खड़ा था। खून से सनी हुई तलवार पैट्रोमैक्स की रोशनी में चमक रही थी। वहीं पास ही मे मुंडहीन शिशु—शरीर लहू मे लथपथ पड़ा था। भिंचे हुए प्राणों का स्पन्दन पैरों और हाथों को बीच-बीच मे हिलाए दे रहा था। *तलवार में उंगली छुआकर उस हत्यारे ने बाबा के ललाट मे रक्त का टीका लगाया।* भगोती, लालता, ठाकुर, सुखदेव, सब थे। सबके माथो पर लहू के गीले टीके लगाए गए। फिर बच्चे की देह को उस निष्ठुर आदमी ने कई टुकड़ो मे काटा। फिर वे टुकड़े एक-एक करके हवन-कुण्ड में डाल दिए गए। जलते हुए मास की दुर्गन्ध को दबाने के लिए सेरों गुग्गल, कपूर, जौ, तिल, सुपारी आदि तो आग मे डाले ही गए, ऊपर से आधा टीन शुद्ध घी भी डाल दिया गया।···बाबा की सिद्धई इस तरह सारे संसार में

मशहूर हुई लाखों दिलों पर उनका चमत्कार असर डाल गया।" (जमनिया का बाबा, पृ० 84-85)

मंदिरों में जहां मान्यता के अनुसार देव-स्थान माना जाता है श्रद्धा-सुमन अर्पित किए जाते है परन्तु आधुनिक मंदिर जगत का यथार्थ इनसे कोसों दूर है। आज मंदिरों पर खुले आम यौनाचार, मादक वस्तुओं का प्रयोग और तस्करी होती रहती है। धर्म में जितना ढोंग और आडम्बर होता है आज वह उतना ही अधिक ग्राह्य है। भोली जनता इन बाबाओं के इसी झांसे और भुलावे का शिकार प्रतिदिन होती रहती है। मठों पर कामक्रीड़ाएं संतलीला मानी जाती है। भ्रष्ट संत समाज यह खेल खेले बिना स्वस्थ और प्रसन्न नही रह सकता। महिलाओं को चंगुल में फंसाकर सदा के लिए उनके जीवन को नरक बना देना इनके बाएं हाथ का खेल होता है। देवदासिया, योगिनियां जैसी उपाधि से विभूषित होकर कुछ महिलाएं तो उनके स्वास्थ्य के लिए दवा का काम करती हैं।

जमनिया मठ पर भी बाबा, मस्तराम, भगौती, राम जनम आदि को प्रसन्न रखने के लिए गौरी, इमरतिया, जलेबिया जैसी महिलाएं चौबीस घंटे उपस्थित रहती है। इनमें से किसी की भी अनुपस्थिति असह्य है उसके स्थान पर तुरंत दूसरी की व्यवस्था आनन-फानन में हो जाती है। बाबा स्वयं इस बात को बड़े सहज ढग से कहता है—

"इमरतिया जाएगी तो जलेबिया नही जाएगी। एकाध सधुआइन न रहे तो मठ उदास लगता है। भगतों की तबियत उचटी-उचटी-सी रहती है।" (वही, पृ० 17)

स्वयं भगौती जिसका कि इस मठ से जीवन-मरण का प्रश्न जुड़ा है, मठ के बारे में छपी हुई खबरों की कतरनें अपने बैग में रखे हुए असलियत स्वीकार करता है—

"असंभव चमत्कारों का जाल बिछाकर दूर-दूर तक के लोगों को फासा जाता है। पिछड़ी जाति की बहुएं और बेटियां गुण्डों की वासना का शिकार बनाकर छोड़ दी जाती हैं...जमनिया का मठ अन्धी गढ़ी नही है तो क्या है।" (वही पृ० 104)

मठ पर व्याप्त यौनाचार को योगिनिया भी अपने जीवन में कितनी सीमा तक उतार लेती है यह कल्पना भी नही की जा सकती। परन्तु नागार्जुन इसका पक्का प्रमाण इमरतिया के द्वारा गौरी की मनोकामना से देते हैं—

"गौरी तो थी ही छिनाल वह साल-साल में दो-तीन मर्द बदलती थी। वह उन मर्दों का बुरी तरह पीछा करती थी जो डील-डौल के तगडे होते थे... एक बार मठ का घोड़ा गरमाया, वह बेचैनी में हिन-हिना रहा था। नथुने फैला-फैलाकर हवा में से कौन-सी गन्ध खींचता था बार-बार! घोड़े को उस बेताबी में देखा तो गौरी मुझसे बोली—मैं इसको ठण्डा कर सकती हूं...अपनी समूची मर्दानगी यह मेरे अन्दर डाल दे तो हमेशा के लिए अघा जाए..." (वही, पृ० 88)

अपनी कामाग्नि को शांत करने में उसे आदमी और जानवर में कोई भेद नही है। उसके लिए शारीरिक सुख प्राप्ति में अवस्था और उससे जुड़ने वाले रिश्ते झूठे हैं—

"कच्चा चबाने के लिए मुझे आदमी ही चाहिए...दस वर्ष का लड़का हो तो भी चलेगा, सत्तर साल का बुड्ढा हो तो भी चलेगा...।" (वही, पृ० 89)

अतः इसी स्थिति से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह साध्वी किस प्रकार का

अनुष्ठान मठ पर करनी होगी। इस माइने में नागार्जुन का कथ्य बड़ा ही प्रामाणिक है। वे इस कामुक समाज की बारीकियों को पाठक के सामने रखते हैं—

"नागार्जुन के उपन्यासों को पढ़ते हुए हम इसकी परीक्षा बहुत आसानी से कर सकते हैं। वे प्रायः उन्हीं अनुभव खण्डों को लेते हैं जिनके बारे में उनकी जानकारी बहुत गहरी है···पढ़ी हुई और सुनी हुई दुनिया पर उनका भरोसा कतई नहीं है। वे देखी हुई दुनिया के लेखक हैं। इसीलिए उनके चरित्र बेहद प्रामाणिक हैं।" (विजय बहादुर सिंह : नागार्जुन का रचना संसार, पृ० 82)

वर्तमान राजनीति भी मठों से सीधा सपर्क साधे हुए है। बड़े-बड़े प्रशासक और राजनेता बाबाओं की चरणरज एवं चरणामृत को प्राप्त करने के लिए दिन-रात इन नवोदित आचार्यों, भगवानों, परम हंसों, ईश्वरों और महाप्रभुओं की आराधना में लगे रहते हैं। इन बाबाओं का वर्तमान राजनीति में तो इतना दखल है कि उनके इशारे से उनके शिष्यों को बेधड़क बिना प्रतीक्षा और श्रम के मनोनुकूल पदों की प्राप्ति हो रही है। जमनिया का बाबा में इसका सकेत साफ-साफ दिखाई दे रहा है—

"तिरंगा वाले तो मठ वालों को मिलाकर ही चलते हैं। उन्हें मदद मिलती है मठ से।" (वही, पृ० 14)

धर्म-मठों पर होने वाली तस्करी और हेराफेरी आज आम व्यवहार में आ गई है। महंत विदेशी माल को अपनी जटाओं के माध्यम से इधर-उधर कराते रहते हैं। नागार्जुन ने इस तथ्य पर बड़ी सटीक टिप्पणी की है।—

"हमारे समाज के अंदर ठौर-ठौर पर कूड़ों के अम्बार इकट्ठे हैं···इस तरह के छंटे हुए बाबा लोग वहीं अपना आसन जमाते हैं और रातों-रात नए-नए मठ खड़े हो जाते हैं। फिर वहां ढाका-काठमाडू होकर गुप-चुप कीमती माल पहुंचने लगते हैं··· छोकरियां आती हैं, छैनी आते हैं उनके साथ टेपरिकार्डिंग मशीन होती है, ट्रान्समीटर होता है।" (जमनिया का बाबा, पृ० 139)

परन्तु नागार्जुन यथास्थितिवादी नहीं हैं। वे धर्ममठों की इस अंधी गढ़ी को ध्वस्त करने में दिन-रात अपनी लेखनी से लगे हुए हैं। उनका अभयानंद स्वामी बाबा को शामन बुला देता है। उसके तमाम अत्याचारों के कारण उसकी जेल कराता है। नागार्जुन अपने कर्कश स्वर में कहते हैं "जमनिया का मठ भारत माता की पीठ पर पक्षाघात का जहरीला फोड़ा है। इसे हम कब तक बर्दाश्त करेंगे?" इस तरह का प्रश्न-चिह्न लगाकर वह जनता में नवीन चेतना के माध्यम से अंधविश्वासों को समूल नष्ट करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं।

4

नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक संघर्ष

भारतीय स्वतन्त्रता लम्बे संघर्षों, बलिदानों और यातनाओं के फलस्वरूप जन जीवन के संपूर्ण सहयोग से प्राप्त हुई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भारत का बालिग-नाबालिग प्रत्येक व्यक्ति लड़ा था किसी का बेटा जेल गया था, किसी को फांसी हुई थी, किसी को काला पानी और जन्म कैद; लेकिन आजादी के सपने के लिए सभी ने इसे दृढ़ विश्वास के साथ झेला और वह दिन भी देखा जबकि उनकी कुर्बानियां सफल हो गईं। आजाद भारत में स्थानीय शासन के अन्तर्गत उसने सर्वप्रथम अपनी जमीन से जुड़ने की बात देखी थी परन्तु सत्ता के स्वार्थ में वे तमाम आदर्श और मर्यादाएं उन रहनुमाओं के हाथों से जाती रही जिन्होंने यह शपथ ली थी कि देश देश वालों का होगा। गरीब मजदूर छोटा मझोला आदमी जो अपना सब कुछ त्यागकर देश प्रेम के नाम पर स्वतन्त्रता के अखाड़े की लड़ाई में निकला था वह फिर पिछड़ गया है। धनंजय वर्मा का यह मत उस पूरी व्यवस्था का सही मूल्यांकन करता है जिसमें आजादी से पहले का सपना और बाद का निष्कर्ष विद्यमान है—

"भारतीय संदर्भ में स्वतन्त्रता पूरी तरह परिभाषित हो, इसके पहले ही उसका अवमूल्यन हो गया। जिसे हम भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कहते हैं उसका मकसद राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली और हमें स्वर्ग मिल जायेगा।"···उसके मिलते ही चौतरफा मोह भंग का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसने साबित कर दिया कि वह सिर्फ सत्ता का हस्तांतरण था उसमें विदेशी पूंजीपति के बदले देशी पूंजीपति बैठ गया और विलायती गोरी नौकरशाही की जगह देशी काली नौकरशाही ने ले ली।" (कल्पना, अक-3, मार्च 1965)

इस बात की पुष्टि हमें पं० जवाहरलाल नेहरू के उस कथन से भी मिलती है। जब उन्होंने देश की आजादी का लक्ष्य स्पष्ट किया था।

"हम केवल राजनीतिक आजादी प्राप्त कर सके है। सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए अभी संघर्ष की आवश्यकता है।" (पं० जवाहरलाल नेहरू के भाषणों का संग्रह 1943-53, प्रकाशन विभाग, सूचना एव प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार)

वास्तव में आजादी मिलने के बाद देश में जो संघर्ष की स्थिति पैदा हुई है उसके तीन बड़े कारण हैं। प्रथम देश मे चुनाव प्रणाली, द्वितीय जमीदारी उन्मूलन और तृतीय प्रशासन मे राजनीतिक हस्तक्षेप। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली का देश में आना उस बात का सकेत था कि देश के शासन मे प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा हो। वह भी अपने काम का उत्तरदायी बने। इस तरह उसे अच्छी सरकार बनाने और भ्रष्ट सरकार गिराने का सैद्धान्तिक अधिकार मिल गया—

जमीदारी उन्मूलन उस सामंती परंपरा का अन्त था जिसकी नींव शोषण के आधार पर टिकी थी। आज आदमी को शोषण से मुक्ति दिलाने का यह दूसरा कदम कहा जा सकता है। छोटे-बड़े जागीरदारों के शिकंजों से निकालकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व किसान और मजदूर को बनाए रख सकने की दिशा में यह शासन का दूसरा और मुख्य सवैधानिक कदम था।

स्वतन्त्र भारत की तीसरी दिशा भारतीय जनता को स्वच्छ और लोकप्रिय प्रशासन देने की थी। क्योंकि अभी तक परतन्त्र भारत मे यहां की जनता ने विदेशी शासको के अत्याचारों को झेला था और भारी यातनाएं भोगी थी। एक तरह से भारतीयों का भाग्य ही विदेशी शासन बनाता था। अतः स्वतन्त्रता मिलने पर देश में जन सामान्य के लिए न्याय बिना किसी भेदभाव और तरफदारी के मिले यह अनिवार्य था। उसकी बहुमुखी जरूरतों जैसे खेती, शिक्षा, उद्योग के योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाए गए जिससे भारत का आधुनिकीकरण हो।

लेकिन वस्तुस्थिति यह रही कि यह सब परिवर्तन एकदम नया था। देश में सामती शासन की जगह लोकतंत्र, जमीदारों की जगह सामान्य प्रशासन तो लागू हो गया परन्तु इसका परिणाम बहुत ही कष्टदायक रहा। चूंकि सामंती और जमीदारी व्यवस्था की अवधि सौ-सौ डेढ सौ वर्ष की हो चुकी थी। भारतीय जनता मे इनके सचालकों की जड़ें पुश्त-दर-पुश्त गहरा गई थी। अतः इतना बड़ा परिवर्तन इन सत्ता-प्रेमियों को स्वीकार नही हो पा रहा है। जमीदार की जमीदारी तो चली गई लेकिन उसका खिसियानापन जो गाव और देहात मे रंग ला रहा है वह दूसरे ही किस्म का है अपने खोये हुए अस्तित्व के लिए उसने समकालीन राजनीति में पुनः सक्रियता दिखाई है। शासन तत्र मे जी-जान से जुट गया है। डॉ० कुवरपाल सिंह ने इस बदलते हुए वर्ग की चारित्रिक करवट पर ठीक ही कहा है।

"इस नए उभरे हुए वर्ग में भूस्वामियों और पूजीपति दोनों के सम्मिलित गुण दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमे पुराने जमीदार की कुटिलता और पूंजीपति वर्ग की चतुराई और निर्ममता का सम्मिश्रण है। अपना काम निकालने में सिद्धहस्त यह वर्ग देश की राजनीति और सम-सामाजिक जीवन को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहा है।" (हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 155)

दूसरी ओर देश का यह तीन-चौथाई वर्ग जिसने सदियो से कठोर यातनाओं का जीवन जिया है। आज उसे दिखने वाली आशा की किरण आजादी ने उसके लिए अधिकार का रास्ता तैयार कर दिया है। यह माना कि स्वतन्त्रता अब भी बड़े लोगों की चौपालों

पर पैर पसारे हुए बैठी है, बड़े-बड़े बाबू लोग ही उसके भागीदार हुए लेकिन गरीब मजदूर, देहाती, अनपढ़ देख-सुनकर स्वतन्त्रता का अर्थ समझने लगे हैं। इस तरह स्वतन्त्रता के लिए देश में वर्गीय संघर्ष का नया जिहाद छिड़ रहा है। गाव बड़ी तेजी से इसी बदलाव की लपेट में आ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति उसका लड़का आज अपने सपने को साकार करने के लिए अधिकार का प्रयोग कर रहा है।

भारत का मुख्य व्यवसाय खेती है। देश का बहुत बड़ा भाग अपनी जीविका के लिए खेती पर ही निर्भर है। अतः आजाद भारत का झुकाव खेती के सर्वांगीण विकास की ओर हुआ। सहकारी खेती, सहकारी बीज भण्डार, दवा, खाद, हरितक्रान्ति आदि योजनाओं के माध्यम से कृषि की दशा सुधारने का बराबर प्रयत्न किया जा रहा है। जमींदारी उन्मूलन इस दशा को सुधारने का ही परिणाम रहा है। ब्लाक और तहसील स्तर पर कृषि के लिए अनेक कार्यक्रम घोषित किए जाते हैं।

अब तो स्थिति यह है कि कृषि आधुनिक आविष्कारों के द्वारा एक उद्योग के रूप में परिवर्तित हो रही है। अतः इस अप्रत्याशित परिवर्तन के कारण अनेक विकृतियां भी उत्पन्न हो रही हैं। डॉ० कुंवरपाल सिंह ने इस बदलती हुई व्यवस्था की विसंगति का संकेत करते हुए कहा है—

'कृषि के आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण ने ग्रामीण जीवन में भी व्यक्तिपरक दृष्टि को उभारा तथा व्यक्तिवादी जीवन-पद्धति को जन्म दिया। शताब्दियों पुरानी परंपरागत सामाजिक भावना समाप्त होने लगी है। हरितक्रान्ति ने निर्धनता और सम्पन्नता की दीवारें और ऊंची कर दी और इस स्थिति ने वहां नए तनावों और शिक्षा के प्रसार और शिक्षा सम्बन्धी व्यापक राजकीय सुविधाओं से उत्पन्न वर्ग-चेतना ने नए संघर्षों को जन्म दिया है। एक ओर शताब्दियों की अमानवीय स्थिति और शोषण को बदलने का संघर्ष है तो दूसरी ओर प्रभावशाली धनिक वर्ग और भूस्वामियों द्वारा यथास्थिति को बनाए रखने और वास्तविक वर्ग-संघर्ष को भ्रमित और दिशाहीन करने का भरपूर प्रयास।" (वही, पृ० 155)

ग्रामीण जीवन का सामुदायिक प्रारूप व्यापक परिवर्तन की ओर अग्रसर है। उनके रहने-सहने, सोचने-समझने के तौर-तरीके बदल रहे हैं। जो व्यक्ति कल तक आज के बारे में सोचता था वह अब बीते कल, आज और आने वाले कल की तीनों स्थितियों पर विचार कर रहा है। उसके अन्दर एक विशिष्ट नवीनता का अंकुर पैदा हो गया है जिसे आधुनिक परिस्थितियां हवा-पानी देकर पुष्पित और फलित कर रही हैं।

इस प्रकार हम कह सकेंगे कि स्वतन्त्रता की लड़ाई बड़ी लड़ाई थी जिसमें प्रत्येक भारतवासी ने देश के कोने-कोने से संग्राम छेड़ा था। जो जिस योग्य था हमने वैसा ही बलिदान दिया। अतः स्वाभाविक था कि वर्षों के संघर्ष के फल में उसका भी हिस्सा हो। सत्ता के सुखद परिवर्तन के सुखद परिणय का वह भी भागीदार बने। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर यह सब नहीं हो सका। आजादी चंद चालाक लोगों की चौपाल तक ही आई। स्वतन्त्रता के नाम पर उन समस्त सुविधाओं को वही जमींदार और पूंजीपति वर्ग लपक कर ले गया जो समस्त जन-समुदाय के लिए थी। अपने इसी अधिकार-

बोध के लिए मजदूर और किसान को फिर संघर्षों, सभाओं और आन्दोलनों का सहारा लेना पड रहा है। ग्राम जीवन के चारों ओर फैलने वाली विभिन्न योजनाओं ने उसे सोचने के लिए बाध्य किया है। उसकी राजनीतिक चेतना पर लगातार अनेक प्रश्न घुमड-घुमड कर उसे आन्दोलित कर रहे है। जमीदारी उन्मूलन, पंचायती राज, सामती विघटन, चुनाव, राजनीतिक दल और उनकी जातीय पद्धति, समाजवादी चेतना का विकास आदि अनेक वैचारिक मंच उसे कुछ कर-गुजरने की ओर संकेत दे रहे है।

यद्यपि यह राजनीतिक संघर्ष प्रेमचंद के उपन्यासों मे आजादी से पहले भी चित्रित हुआ है। प्रेमचंद ने भी राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संघर्षों की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। किसान पर जमीदार तथा उससे लगे-लिपटे लोगों की शोपण की भूमिका प्रेमचंद के उपन्यासों मे देखने को मिलती है। उनके वहां सरकारी संरक्षण मे पलने वाला जमीदार अपने गांव और इलाके के किसानो को अपने निजी कर्मचारियो, पटवारी, कारिन्दा आदि के माध्यम से चूस-चूस कर उन्हें बेजान कर रहा था। वह अपनी अमल-दारी में शुभ और अशुभ की बिना परवाह किए जो वह ठीक समझता है डडे के जोर से करता है। प्रेमचंद ने इसे वर्ग चरित्र कहा है जोकि प्रत्येक जमीदार को खानदानी विरासत के तौर पर हासिल है। उनके उपन्यासो मे इस वर्ग की कई महत्वपूर्ण भूमिकाएं हैं। धर्म और राजनीति से लेकर उसने समाज और राष्ट्र तक को अपने प्रभुत्व से प्रभावित अंग्रेज अलमबरदार उसके यहां दावतों पर आमंत्रित होते रहते हैं। डॉ० कमला गुप्ता ने प्रेमचंद के उपन्यासों मे जमीदार की इसी स्थिति को बताते हुए कहा है—

"प्रेमचंद ने इस विभीषिका को बहुत स्पष्ट रूप से पहचाना है। किसानों की शोपण शक्तियां अमरबेल की तरह उनसे लिपटी हैं, जिनके पार्श्व में वह निरंतर कसता जा रहा है। जमीदारो के बावन हाथ हो जाते हैं। उनका वर्ग किसी-न-किसी बहाने किसानो को फंसाने की सामर्थ्य रखता है। पुलिस, न्यायालय, सरकारी अधिकारी कर्मचारी सभी की उन पर बडी कृपा होती है क्योकि किसान की लूट मे इन सभी का हाथ रहता है।" (हिन्दी उपन्यासो मे सामन्तवाद, पृ० 272-73) प्रेमचद का किसान और मजदूर जहाज के पंछी की तरह घुमड-घुमड कर घुट-घुटकर न चाहते हुए भी इन्ही रायबहादुरों और साहब बहादुरों की शरण मे आता था। किसान और मजदूर को बेगार करना, खून चुसवाना ही पड़ता है क्योंकि प्रेमचंद के युग तक जनआन्दोलनों का इतना उभार नही था। उनके यहा स्वतंत्रता की राष्ट्रीय समस्या थी। उनके यहां किसानों और मजदूरो का शोषण इसीलिए होता है कि वे दबे रहे उन्हे जितना दबाया जाए दबाते जाना होगा। क्योकि ये जमीदार अंग्रेजी सरकार के कवच थे। और अंग्रेजो को रूस और फ्रांस की क्रांतियों से लग चुका था कि जिस समय यह देश का बहुलाश खडा हो जायेगा उनके पैर दो दिन हिन्दुस्तान की जमीन पर नहीं टिके रह सकते अत' तमाम अत्याचार और शोपण महज किसानों और मजदूरो को दबाते, उन्हे शक्तिहीन करने के लिए इसीलिए किए जाते है जिनको हिन्दुस्तान के ये क्रीतदास

मूछो पर ताव देकर अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान सपझकर वेलौस करते रहते है ।

दूसरे, प्रेमचंद के जमाने मे किसानों का कोई इतना मजबूत सगठन नही था जिससे उन्हे प्रेरणा मिलती और वे अपनी बेहतर हालत के लिए जमीदार के सामने जाते । यद्यपि 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचंद अपने किसान को तो नही, किसान के बेटे को संघर्ष के दरवाजे पर लाकर खड़ा कर देते है परन्तु वह भी अकेला है ।

लेकिन नागार्जुन के किसान और मजदूर प्रेमचद के किसान और मजदूरो से दो कदम आगे हैं । प्रेमचंद के जमाने में जमीदारी अहर कायम था—अपनी चरम सीमा पर था परन्तु नागार्जुन के जमाने मे उसकी जड़ें हिल गईं वह समूचा उखड़ गया । 'किसान-सभा' और मजदूर संगठनो से नागार्जुन के किसान और मजदूर शक्ति अर्जित करते है । वे जमीदार और बड़े भूस्वामी के खिलाफ सामने आकर "जमीन किसकी—जोते बोए उसकी"—और इन्कलाब जिन्दाबाद जैसे नारे लगा कर उसकी नाक मे कोडी बांधते हैं । दूसरे नागार्जुन के किसान आजाद भारत के किसान है वे चेतना सम्पन्न है उन्होंने अपनी शक्ति का परीक्षण स्वतन्त्रता आन्दोलन मे फासी, जेल, कालापानी भुगत कर देख लिया है । उन्हे अपनी अटूट शक्ति का परिचय है तभी उनके वर्ग के बलचनमा, ताराचरण, दयानाथ, कपिल और वीरभद्र जैसे युवक सीना तान कर चलते है । उन्होंने बदलते हुए परिवेश से शक्ति अर्जित की है । यह चेतना-सम्पन्न युवा वर्ग जमीदार और भूस्वामी से टक्कर लेकर उनकी जालिमाना हरकतों को हमेशा-हमेशा के लिए नीचा दिखा देता है, और 'स्वाधीनता' 'शान्ति और प्रगति' जैसे सिंदूरी अक्षरो से देश के भविष्य का संकेत दे देता है ।

नागार्जुन के उपन्यासों मे यह राजनीतिक संघर्ष बड़ा ही विशद और व्यापक है। उन्होंने अपने उपन्यासों में स्वतन्त्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के बाद की परिस्थितियों के क्षितिजो का छूकर जन-आन्दोलनों और जनसंघर्षों की दिशा तय की है । जिसका विवेचन निम्नलिखित शीर्षको में अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत किया गया है ।

स्वतंत्रता संघर्ष

1857 के बाद देश मे राष्ट्रीय चेतना हर घर मे अपना स्थान बनाने लगी थी । "देश आजाद होना है और उसे हमे आजाद कराना है इस तरह की भावना भारत के उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम के समूचे प्रान्तों, अंचलों से व्यक्त होने लगी । अतः राष्ट्रीय भावना के देशव्यापी वातावरण का जन-जीवन से व्यापक तौर पर संपर्क जुड़ रहा था । उसमें शहर और देहात दोनो का भरपूर सहयोग था । देहात का व्यक्ति अनपढ होते हुए भी अपनी शारीरिक शक्ति देश के लिए जेल, यातना और सघर्ष मे दे रहा था ।

"स्वतन्त्रता के पूर्ववर्ती-काल में ही यदि हम अपने राष्ट्रीय वातावरण को देखें तो असहयोग-आन्दोलन, 'सामाजिक बहिष्कार आन्दोलन, विभिन्न सत्याग्रह, भारत छोड़ो

आन्दोलन आदि ऐसे अनेक राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के कार्यक्रम थे जिन्हें ग्रामीणों ने अपनी यथाशक्ति सहायता देकर अधिक गतिशील किया।" (डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्ता : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० 38)

इस तरह गाव का वह व्यक्ति जो कि नितान्त अपढ़ या मामूली पढ़ा-लिखा था सघर्ष की पहली पक्ति मे देश के लिए आकर खडा हो गया। परन्तु सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह रही कि उसका नेतृत्व मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के लोगों के हाथ मे रहा जिन्होंने आन्दोलन और संघर्ष की दिशा को सदैव विदेशी शासन के समझौते के अन्तर्गत अपने वर्ग के मुनाफे के लिए मोडा। उस समय स्वतंत्रता संग्राम के दिनो देश मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही सबसे बड़ी पार्टी थी परन्तु उसका नेतृत्व उच्चवर्ग के लोगो के हाथ में था जो कि घनघोर सुविधाभोगी थे। वे देश के युवा वर्ग पर समझौतों संशोधनों का निरंतर अकुश लगा-लगा कर उसके उत्साह को ठडा कर अपने को नेतृत्व मे महत्वपूर्ण मानने और वर्ग लाभ करने के सिवाय उन्होंने और कुछ नही किया।

नागार्जुन ने स्वतंत्रता आन्दोलन का अपने उपन्यास 'बलचनमा' और 'रतिनाथ की चाची' मे विस्तार से उल्लेख किया है। सन् 1920 से लेकर 1936 तक पूरा का पूरा भारतीय आन्दोलन टूट-टूट कर बिखर कर इन्ही दकियानूसी लोगो के आस-पास आता रहा और लोगों को विशेष रूप से आम जनता को यह आशा बंधी रही कि देश-हित के लिए लड़ा जाने वाला यह संग्राम आम आदमी के लिए है। परन्तु यह भ्रम था। नागार्जुन का 'बलचनमा' इसी राजनीतिक भ्रम का अनावरण करता हुआ कहता है—

"कांग्रेस के बारे मे सोचने लगा कि स्वराज्य मिलने पर बाबू भइया लोग आपस मे ही दही मछली बांट लेंगे। ये लोग आज मालिक बने बैठे है, आगे भी तरमाल वही उड़ावेंगे। हम लोगो के हिस्से सीठी ही सीठी पड़ेगी।" (पृ० 155)

मालिक लोगो की यह तरमाल उडाने की बात बड़े गहरे अनुभव की बात है। गहराई से देखने पर पता चलेगा कि कांग्रेस की रहनुमाई करने वाले तमाम लोग बड़े घरानों के थे। कांग्रेस मे शामिल होने से उनको दुहरे फायदे थे। प्रथम, देश मे नेतृत्व का दायित्व अर्थात इज्जत और सम्मान की लालसा पूरी हो रही थी, दूसरे देश आजाद होने पर उनका तथा उनके वर्ग का बहुत बड़ा हितसाधन निश्चित था।

इधर मजदूर और आम जनता को स्वतंत्रता आन्दोलन में कई स्तरो पर मार पड रही थी। प्रथमतः, शासन का कोपभाजन तो वे हो ही रहे थे; दूसरे, स्थानीय प्रशासन के लोग जोकि विदेशी सत्ता में रायबहादुर, सरकार बहादुर कहलाने का जिन्हें हक हासिल था उनकी स्वार्थ-लिप्सा मजदूर को पीस रही थी, और तीसरे, उनके जोश और भविष्य को कांग्रेस का नेतृत्व समझौतों और संशोधनो आदि के माध्यम से घूमिल कर रहा था। 1936 के स्थानीय प्रशासन ने तो इस दिशा में और अधिक चार चाद लगा दिए। नागार्जुन ने इस पूरी स्थिति को 'रतिनाथ की चाची' मे संकेत देकर स्पष्ट कर दिया है—

"बार-बार आगे-पीछे सोचकर कांग्रेस ने जब प्रांतों के शासन मे हाथ बंटाना स्वीकार कर लिया तो जनता ने युग की ओर नई आशा से देखा। मिनिस्टरी कुबूल कर लेने पर

नेताओं का उत्तरदायित्व बेहद बढ़ गया। चुनाव के समय उन्होंने जनता से बड़े-बड़े वायदे किये थे।'''मन्त्रियों ने अपनी पीठ कर दी किसानों की ओर, मुह कर दिया जमींदारों की ओर। दुनिया-भर मे बदनामी फैल गई कि विहार की कांग्रेस पर जमींदारों का असर है। जवाहरलाल तक ने यह बात खुल्लम-खुल्ला कही।" (पृ० 92)

यह बात अकेले बिहार प्रांत की न होकर समूचे भारत के अंचलों की थी बड़े घर के लोग अपने को बड़ा बनाने मे कोई कसर नहीं उठा रहे थे। क्योंकि यह उन्होंने संस्कारो से सीखा था।

परन्तु इधर का नौजवान अपना सब-कुछ मिटाता हुआ अपने घर-परिवार की चिन्ता किये बगैर देश को आजाद कराने पर जुटा था। वह आजादी का दीवाना, मात्र 'चिड़िया की आंख' का लक्ष्य आजादी को बनाए हुए था, परन्तु जमींदार घराने के लोग चिड़िया की आंख के साथ-साथ समूचे पेड़ और उसके आसपास के वातावरण पर भी दृष्टि रख रहे थे। 'पारो' उपन्यास के लाल भैया अपना सब-कुछ इसी आशा में दांव पर लगा रहे थे कि उन्हें केवल 'भारत मां' को आजाद कराना है—

"लाल भइया को जहां ये कोई बातें समझाने लगता तो अन्त मे जीभ को कुचलते हुए कहते—पराधीन भारत मा को स्वतन्त्र करने के क्रम मे यदि हम लोग ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने लगे तब तो हुआ। अपने-अपने सर्वस्व का माया-मोह छोड़ जब तक *हम आप स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर जाकर नही खड़े होंगे, तब तक देश की यही हालत* रहेगी।" (पृ० 62)

वास्तव मे स्वतन्त्रता आंदोलन सबका आंदोलन था, सबके त्याग का आंदोलन था। भारतवासी तन-मन और धन से इसे सफल बनाने में, देश को आजाद कराने मे प्रयत्नशील थे। अतः उन्होंने एक सपना अपने देश के बारे में देखा था क्योंकि भारत की अधिकांश जनता गरीब और अशिक्षित थी इसलिए वह कुर्बानी तो देना जानती थी और दे रही थी परन्तु वह रणनीति से अनभिज्ञ थी, उसकी तमाम आशाएं उच्च नेतृत्व वाले बाबू लोगो के साथ जुड़ी थी। अतः अपनी भलाई की कामना वह उनकी कृपा पर ही सोच रहा था।

'बलचनमा' में यह बात बहुत साफ तरीके से नागार्जुन के प्रस्तुत की है। गरीब बल-*चनमा बड़े लोगों की बात सुनकर अपने देश की आजादी की कल्पना करते हुए अपनी* खुशहाली पर फूला नही समाता। वह दिन-रात इसी कल्पना मे समय गुजार देता है कि देश आजाद होने पर सबके भाग चमकेंगे—

"मैंने सोचा मेरे मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जायेगा, फिर यही बाबू भइया लोग अफसर बनेंगे और तब इस बाबाजी महाराज का भी उद्धार हो जायेगा। इसके हाड़ो पर मास चढ़ेगा। चेहरे पर चिकनाई आयेगी। बूढ़ा-सूगा होगा, हो जाने पर पढ़-गुन तो क्या सकेगा मगर बाकी आराम सुभीता इस रसोइया को भी मिलेगा। सोराज होने पर क्या होगा? यह बात मैंने एक बार पटना में महेनबाबू से पूछा था। उन्होंने क्या जवाब दिया था भैया, क्या बताऊं? महेनबाबू ने यही कहा था कि सोराज होने पर सबके दिन लौटेंगे, सबका भाग चमकेगा। हमारा भी तुम्हारा भी।" (पृ० 90)

लेकिन बलचनमा और उसके भाई-बांधवों का तो भाग नहीं चमका। सही मायने में भाग चमका फूलबाबू और महेनबाबू के भाई-बांधवों का उनकी जाति-बिरादरी का। यह बात आज तक चली आ रही है कि जिन लोगों ने स्वतन्त्रता आंदोलन में खुलकर हिस्सा लिया था, फांसी चढ़े थे, काला पानी हुआ था, लापता हो गए थे उनके तथा उनके परिवार के नाम पर आज तक किसी ने दु:ख-दर्द की बात नहीं पूछी। क्रांतिकारियों के परिवार उजड़ गए परन्तु किसी ने उनकी कभी परवाह नहीं की।

नागार्जुन ने बलचनमा में कांग्रेस और उसके वर्गीय स्वार्थों के जुड़ाव को बड़ी गहरी दृष्टि सेप्रस्तुत किया है। फूलबाबू जोकि घनघोर कांग्रेसी है। सुबह से शाम तक गांधीवाद की हर बात में बांग देता है। उसे महात्मा गांधी से अपार श्रद्धा और उनके कार्यों से अपार स्नेह है। इस सबके पीछे वह घर और पढ़ाई सब छोड़कर गांधीवाद के पीछे बैरागी हो चला है। यह उसकी सैद्धांतिक भूमिका है। परन्तु यथार्थ इससे कोसों दूर है। पता तब चलता है जबकि बलचनमा अपनी बहिन के साथ मालिक द्वारा किए गए बलात्कार की शिकायत करता है, साथ ही अपने खिलाफ मालिक द्वारा उसे झूठा फंसाने के आरोप में थाना में लिखाई गई रपट के सम्बन्ध में फूलबाबू के पास इसी आशा के साथ आता है कि उसे न्याय मिलेगा। परन्तु स्थिति इसके विपरीत है—

"मुझे यह भी भरोसा था कि फूलबाबू जब महात्मा के चेला बन गये हैं तो हमारे मालिक को इस जोर-जुलुम के लिए दो बात वह जरूर कहेंगे। महातमा गांधी न बड़े लाट से डरते हैं न छोटे लाट से, न सरकार से न अमला से। गरीबों का पक्ष लेते हैं। फूल-बाबू उन्हीं गांधी महातमा के चेला होकर मेरे लिए क्या इतना भी नहीं करेंगे कि अपने फूफा-फूफी को जरा समझा दें?" (बलचनमा, पृ० 92)

परन्तु यह एक गरीब की कोरी भावुकता है। उसे इसका बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है कि इस पाप की तबियत में कोई अन्तर नहीं है। फूलबाबू बलचनमा की बात सुनकर उससे साफ-साफ कह देते हैं। उनका आदर्श यथार्थ में बदलकर कितना सही रूप प्रस्तुत करता है—

"मगर फूलबाबू ने यह कहकर यहीं बात खत्म कर दी कि तुम्हारा तो आपस का झगड़ा है बहिया-महतो का। इसका निबटारा भी तुम्हीं दोनों कर लोगे। इसमें मेरी कोई जरूरत नहीं। जा-जाकर अपने मालिक के ही पैर पकड़। वह मुझे माफ कर देंगे।" (वही, पृ० 94)

यह उस कांग्रेसी का वास्तविक चरित्र है जो देश-सेवा का स्वांग दिन-रात करता है परन्तु उसके वर्ग पर जरा भी चोट आती है तो वह उसी की हमदर्दी करता है—

"उसकी लड़ाई वर्ग-हित के लिए है, वर्ग-विरोध के लिए नहीं। चाहे रेवनी जैसे कितनी ही निरीह नारियों का सतीत्व खण्डित हो, अपराधी मालिक रेवनी की जैसी माताओं को इसलिए कितना ही मारे कि उसकी हिम्मत इतनी हो गई कि उसके बलात्कार करने के विरुद्ध आवाज उठाने लगी। चाहे बलचनमा जैसे कितने ही खेतमजदूरों को उसकी बहिन के साथ बलात्कार करने के बाद उसकी जीभ नो भी देने के लिए जमींदारों द्वारा जेल भेजा जाता रहे। पर फूलबाबू जैसे वर्ग सहयोगी बगुलाभगत नेता कुछ

नही बोलेंगे। यदि उनकी स्वयं की बहिन के साथ बलात्कार हुआ होता तो आकाश-पाताल एक करने को तैयार हो जाते। ऐसे वर्गीय पक्षधर भारत के कर्णधार बने और भारत की जनता के शोषण की मुहिम को और आगे बढ़ा दिया। (डॉ० कुंवरपालसिंह : हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना, पृ० 160)

अत: बलचनमा की इन राष्ट्रभक्तो से अश्रद्धा हो जाती है। वह दो पंक्तियों में इन सुराजियों के बारे में बड़ा सटीक निष्कर्ष देता है—

"कैसे धोखे मे मैं पड़ा हुआ था। मेरा सारा मोह क्षण-भर में फट गया। साफ-साफ दीखने लगा कि बाबू भैया लोग वहीं तक हमारा पक्ष लेंगे, जहा तक उनका अपना मतलब रहेगा'''सोराजी हो गये थे तो क्या, थे तो आखिर बाबू भइया ही न! गरीब गुरबा का दुःख ये लोग क्या जानें।" (बलचनमा, पृ० 94)

साफ ज़ाहिर था कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की लड़ाई बड़ी पेचीदी लड़ाई थी। कांग्रेस का पूजीपति, सामंतों के वर्गों से अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए समझौता रहा। इन वर्गों के लोग चन्दों और नकली गिरफ्तारियों के माध्यम से स्वतन्त्रता मे इसलिए भाग ले रहे थे कि उनके स्वार्थ सलामत रहे। पूजीपति वर्ग भी कांग्रेस के साथ था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन में 'नमक आदोलन' और 'स्वदेशी आंदोलन' के अंतर्गत इस वर्ग की बड़ी स्वार्थी भूमिका रही है। इन राष्ट्रीय आंदोलनों में वह क्योंकर भाग लेता रहा नागार्जुन ने उसे स्पष्ट किया——

"सरकार बहादुर की ओर से कानून है कि नमक सब नही बना सकते। गाधी महात्मा सरकार को झुकाना चाहते थे।, चाहते थे कि दो-चार बातें, उनकी मान ले सरकार। गोरी सरकार अपनी जिद पर अड़ी थी। कलकत्ता बम्बई के सेठ साहूकार भी भीतर-ही-भीतर गांधीजी का पक्ष ले रहे थे उनको साफ-साफ लौकता था कि स्वराज होने से सबसे जास्ती भलाई उन्ही की होगी। वे देख रहे थे सरकार झुकती है तो सुराज मिलता है। सुराज मिलता है तो अधिक-से-अधिक कल-कारखाने वे खड़ा कर सकते हैं। अभी जो देश को दुहकर सारी धन-सम्पदा अंग्रेज ले जाते हैं, स्वराज्य हो जाने पर वह सब सीधे उनके खजाने मे आने लगेगी—सन् तीस-बत्तीस का जमाना था, गांधीजी के हुकुम से बाबू लोग गिरफ्तार हो रहे थे।" (बलचनमा, पृ० 59)

यह वह दुतरफी मार वाला घातक समझौता कांग्रेस ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। उसे जन-हित से कितना प्यार और लगाव हो सकता है यह उन कार्यकर्ताओं, उनकी नीतियों, नीयतों से साफ-साफ झाकता है। कांग्रेस की सदस्यता मे बहुत बड़ी तादाद मे सामंतो और जमींदारों के बेटे, धनी पूजीपति और कारखाने वाले सेठ शामिल थे, अत: वे स्वतन्त्रता की लड़ाई को इसलिए और भी जी-जान से लड़ रहे थे-लड़ा रहे थे कि दोनों तरफ से उन्हीं की चांदी है। यह उनके खुले परिणाम वाला प्रयत्न था।

क्योंकि बलचनमा सुनी हुई बात पाठक से नही कर रहा है। उसने कांग्रेसी आश्रम मे रहकर कांग्रेसियो को खूब खिचड़ी खिलाई है उनकी जमकर तेल मालिश की है। अत: उसे उनके साथ रहने, बैठने, उठने, उनकी बातें सुनने और उनके चरित्र और कारनामे देखने को खूब मिले हैं। इसलिए उनकी बातो के निष्कर्ष प्रामाणिक और तत्कालीन

राजनीतिक परिवेश पर खरे उतर रहे हैं। बाबू भइयों का नाटक उसने रात मे नही दिन में भी खूब जी भर देखा है—

"यह जो दस-दस पांच-पांच आदमी धोती-कुर्त्ता टोपी पहनकर गले में माला डाले चढ़उआ (बलि वाले) बकरे की तरह नमक बनाने जाते थे सो मुझे बाबू लोगों का एक खिलवाड़ ही लगता था।" (वही, पृ० 59)

अतः कांग्रेस मे अपनी इन्ही शिथिलताओं के कारण बिखराव आता है और उसके नेतृत्व को सबसे बड़ा धक्का जब लगता है जबकि उसके अन्दर से ही कई प्रगतिशील विचारों के नेता अलग हो गये—

"कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व ने राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जो गद्दारी की थी, उससे स्वयं कांग्रेस को बड़ा धक्का लगा था। उसकी सदस्य संख्या घटकर पांच लाख से कम अर्थात् 45,7000 हो गई थी।" (अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम, पृ० 609)

इस तरह स्वाधीनता संघर्ष में अनेकों उलझनो और गैर जरूरी प्राथमिकताओं ने देश की जनता को सही रास्ते मे लड़ने नही दिया। यदि देश की आजादी जिसे क्रांतिकारियो ने अपने लहू से रंग कर तैयार किया था उस रूप में होती तो देश की स्थिति आज यह नही होती। आज वही बाबू भइया तर माल के ग्राहक हैं। बलचनमा और उस जैसे करोड़ों लोग फिर इन्ही लोगों के मोहताज हैं। परन्तु वह फिर भी चुप नही बैठने वाले। उन्हे अपना हक लेना है तो लेकर ही रहेगें। नागार्जुन जैसा प्रगतिशील लेखक उन्हें दिलाकर छोड़ेगा। नागार्जुन के पात्रों के इस अदम्य साहस को देखते हुए यह बात सही लगती है—

"इसके अलावा एक और चीज मुझे जनता को देखकर नागार्जुन मे दिखाई देती है और वह यह कि उनके यहां जनता सिर्फ करुणोत्पादक लाचार, असहाय, शोषित नही है। सामान्य जन की भयावह हालत का चित्रण करना बुरी बात नही है। लेकिन भारतीय जनता मे जिन्दा रहने के लिए लड़ने का माद्दा भी जबरदस्त है—नागार्जुन के यहा जनता सिर्फ करुणा तथा दया उपजाने वाली स्थिर, जड, 'वहां रखी हुई चीज' नही है, बल्कि इकट्ठा होती हुई, समूह बनती चलती, कभी थककर बैठती, लेकिन फिर उठकर आगे बढती, हमला करती, डण्डों गोलियो के आगे तितर-बितर होती, नारे लगाती, घेराव तथा हड़ताल करती, जेल जाती और कभी-कभी जान देती जनता है।" (विष्णु खरे : आलोचना 56-57, नागार्जुन विशेषांक, पृ० 22)

अत. नागार्जुन की कृतियां पूर्णरूपेण समाज संपृक्त हैं। देश मे घटने वाली घटनाओं से आम जनता पर जो प्रभाव पडता है। उसके स्वरूप को नागार्जुन अपने लेखन में प्रथम स्थान देते हैं। उनकी समूची कृतियां सम-सामयिक गतिविधियों का दस्तावेज हैं। उनकी सबसे बड़ी यही प्रमाणिकता है कि पूरा ढांचा कृतियो में प्रतिबिम्बित होता है। नागार्जुन अपने विश्वास के अकेले लेखक हैं।

सम-सामयिक राजनीतिक घटनाएं

स्वतन्त्रता आंदोलनों ने जनता के दिलो-दिमाग को झकझोरकर रख दिया था; सत्याग्रह नमक कानून, असहयोग आंदोलन आदि से समूचा भारत परिचित हो चुका था संघर्ष की मुहिम को तेज करने के लिए पश्चिमी समाजवादी चिंतकों के विचार भी भारतीय जनता में अपना स्थान बना चुके थे। अतः नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में सम-सामयिक घटनाओं का उल्लेख राष्ट्रीय सन्दर्भ में किया है। स्वयं नागार्जुन भी राजनीतिक कार्य कर्ता रहे हैं देश के स्वतन्त्रता आंदोलन में उन्होंने भी जेल काटी है, यातनाएं सही हैं इसलिए उनके लेखन में एक तल्खी है, रवानगी है। और न वे कभी आवेश का शिकार हुए हैं और न कभी भावुकता में बहकर अपने सिद्धांतों का सौदा किया है। इस तरह की पूरी छवि उनके उपन्यासों के पात्रों में प्रतिफलित होती है। अतः अपने राजनीतिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने बड़े ही प्रामाणिक निष्कर्ष दिए हैं।

स्पष्ट है कि नागार्जुन के उपन्यासों में स्वतन्त्रता से पूर्व और स्वतन्त्रता के बाद की सम-सामयिक घटनाओं का चित्रण है जिसमें उन्होंने राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्षों के माध्यम से देहाती अंचल का सम्बन्ध स्थापित किया। यद्यपि उनके पात्र विशुद्ध देहाती हैं लेकिन नागार्जुन उन्हें किसी-न-किसी बहाने से शहरी हवा खिलाकर वस्तुस्थिति से परिचित करा देते हैं। वह स्वतन्त्रता आंदोलनकारियों की स्थिति भी बड़ी निकट से जानते हैं।

'बलचनमा' के अन्तर्गत नागार्जुन ने बलचनमा को कांग्रेसी नेता फूलबाबू के साथ रखकर उसके वर्गीय चरित्र और योजनाओं की अच्छी तरह पहचान कराई है। उसने उन सुराजियों की चाल को साथ रहकर देखा है जो सदैव दुरंगी रही है। वह बरहमपुर स्थित कांग्रेसी आश्रम में सुराजी लोगों को देखता है। यहां के इन सफेदपोश लोगों के बारे में उसकी उक्ति बड़ी ही सारगर्भित है। वह इन देश-प्रेमियों के बारे में सहजता से कहता है—

"राधा बाबू राजा खानदान के थे। पढ़ाई करते समय स्टेट का पैसा फूकते रहे और अब पब्लिक का। चन्दा आरम्भ में काफी आता था। कोई उनसे हिसाब लेने वाला नहीं था जैसे मर्जी आई वैसे खरच किया।" (पृ० 102-103)

इन देश-प्रेमियों के दूसरे शरीर-सुखवाले ढोंग पर भी नागार्जुन ने दृष्टिपात किया है। घनघोर सुविधा भोगी वर्ग के ये रहनुमा कभी भी तकलीफ नहीं सह सकते। सेवा टहल करवाना इनके लिए किसी-न-किसी रूप में अनिवार्य है। बात-बात में गांधीवाद की दुहाई देकर शरीर लाभ करना ये कभी नहीं भूले। आश्रम में गांधीजी के घोर विरोध के बाद भी इन जमींदार पुत्रों ने नौकरों को रखा परन्तु उनका नाम बदल दिया। जिससे कि खुली तौर पर उनकी तार पर उनकी बदनामी न हो—

"महात्माजी का हुकुम नहीं था कि सोराजी लोग आसरम में किसी को नौकर-चाकर के तौर पर रखें। फिर भी हम आसरम में चार जने थे। कहने को वॉलंटियर कह लो

सेवक कह लो, लेकिन थे तो हम नौकर ही। एक का नाम था रूपलाल, दूसरे का नाम था छट्टू, तीसरा था मंगल, चौथा मै था।" (वही, पृ० 112)

वास्तव मे बलचनमा गांव से शहर आने वाला अनपढ़ व्यक्ति है लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित है। वह शहर की राजनीति में गांव का सपना देख रहा है। लोगों में समकालीन राजनीति और राजनीतिज्ञों से प्रेरणा लेकर अपने अस्तित्व की रक्षा और अधिकारों की मांग को जी-जान से पूरा कराने में संलग्न है। महात्मा गांधी के हुक्म से 'स्वदेशी आदोलन' को तेज करने के लिए खद्दर और चरखे का प्रचार भी बलचनमा ने रसोइये का काम करते हुए देखा है।

सन् 1932 के आते-आते कांग्रेस मे प्रगतिशील तत्व अलग हो गए थे और उन्होंने अपनी समाजवादी पार्टी का गठन विधिवत कर लिया था। नागार्जुन ने बलचनमा में दोनों के सिद्धान्तों का अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनका बलचनमा कांग्रेस के इसी चरित्र को लेकर अलग हो जाता है। बलचनमा कांग्रेस के मूलभूत सिद्धान्तो, गांधीजी के आदर्शों को कांग्रेस संगठन की चारित्रिक कमजोरी मानता है। सोशलिस्ट और कांग्रेस की मूलभूत धारणाओं का उल्लेख करते हुए वह अपने जीवन के मोड़ की ओर सकेत देता है—

"गांधी महातमा से किस बात में सोशलिस्टियो का मेल नही खाता है। अंग्रेजी राज न कांग्रेस चाहती है न सोशलिस्ट ही चाहते हैं। लेकिन गांधी महातमा कल-कारखाना के खिलाफ है। वह इसके भी खिलाफ है कि सेठों, जमीदारो, राजाओ, महाराजाओ से जमीन-जायदाद और धन-सम्पदा छीन कर उसे लोगो मे बाट दिया जाये—उनका कहना है कि एक न एक दिन अंग्रेजों की मति फिर जायेगी तब के अपने आप यह मुलुक छोड़ कर चल देंगे उनको जास्ती परेशान मत करो।" (वही, पृ० 156)

दूसरी ओर वह सोशलिस्ट पार्टी के सिद्धान्तों को भी समझता है। उसे अच्छी तरह याद है कि स्वाभिमान और आत्मविश्वास के लिए संघर्ष, कांग्रेस मे न होकर सोशलिस्टों में है—

"सोशलिस्टों का क्या कहना था उनका कहना यही था कि दो-चार साधू महात्मा के गिड़गिडाने से अंग्रेजों का दिल नहीं बदलेगा। समूची जनता आपस के भेद-भाव भुला कर उठ खड़ी होगी तभी अंग्रेज भागेगा—लोगो को जब विश्वास हो जायेगा कि जमींदार महाजन की फाजिल धन संपदा उन्ही में बंट जायेगी, रोजी-रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढाई-लिखाई···बुढापे की बेफिक्री, खान-पान और रहन-सहन का ठौर-ठिकाना—दवा-दारू, पथ-पानी का इंतजाम—यह सभी के लिए सुलभ होगा, दरभंगा के महाराज हों चाहे पटना के लाट साब मुफ्त मे खाना किसी को नही मिलेगा—सब काम करेगा, सब दाम पावेगा—लूले-अपंग, बूढ़े-बेकार सबकी जिम्मेदारी सरकार को उठानी पड़ेगी, पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुआ गुलाम नही बना सकेगा।" (वही, पृ० 156)

इस तरह कांग्रेसी और सोशलिस्ट विचारों से बलचनमा ने अपना रास्ता तय करने की दिशा तैयार की। वह पहली बार व्यक्ति के अस्तित्व को सोशलिस्टों के संपर्क मे

आने पर पहचानता है वह सोशलिस्ट विचारधारा से प्रभावित होकर अपने मन को पक्का करते हुए अपने अन्दर पैदा होने वाली भावना को अभिव्यक्त करता है—

"ठीक कहते है सोशलिस्ट भाई, जिसका हारफार उसको धरती। जिसका हुनर और जिसका हाथ उसी का कल कारखाना।" (वही' पृ० 156)

इस तरह बलचनमा का धीरे-धीरे मोह-भंग होता है। उसे समाजवादी विचार-धारा से उसके सिद्धान्तो मे व्यावहारिक समता होने के कारण लगाव बढ़ने लगता है उसके राजनीतिक जीवन को बदलने वाली तीन नई घटनाएं भूचाल का आना, महात्मा गांधी का इलाकाई दौरा और राधा बाबू का सोशलिस्ट होना है; जिससे उसने सबक सीखा है। भूचाल के रिलीफ फन्ड में उसने कांग्रेसी अलमबरदार की बेईमानी को खड़े-खड़े देखा है। गांधी महात्मा के इसी चेले फूल बाबू को नमक कानून मे पिटते देखा है। कांग्रेस और देशी पूजीपति के स्वदेशी आन्दोलन मे गठबन्धन उसके सामने होते है अतः अब उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि इस बेहयाई से जीवन की सार्थकता नही है। वह सोशलिस्ट पार्टी का मेंबर बनकर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगता है, वह अपने लोगो को अपने वर्ग के हित और अधिकारों के लिए ग्रामीण स्तर पर एकत्रित करता है।

"बाबा बटेसरनाथ" मे बाबा बटेसरनाथ जैकिसुन को स्वाधीनता संग्राम और उसके आन्दोलनों की घटनाएं तथा भारतीयों की होने वाली प्रतिक्रिया को बड़े विस्तार मे सुनाता है। 1905 का बंग-भंग आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन, आदि की पूरी फहरिस्त बाबा के पास है वह एक-एक करके जैकिसुन को मात्र इसीलिए सुना रहा है कि इस युवक के हृदय में शत्रु और मित्र पक्ष की अच्छी तरह पहचान हो सके। बाबा 1905 में बंग-भंग आन्दोलन का जिक्र करते हुए जन-आक्रोश का हवाला देते हुए कहता है—

"बंगाल के नौजवान महात्मा गांधी की असहयोग और सत्य अहिंसा की बातों मे आस्था नही रखते थे। दुश्मनों को पछाड़ने में जितने भी तरीके हो सकते हैं वे उन्हे आजमाने के पक्ष मे थे। ईस्ट इण्डिया कंपनी के जमाने से ही गोरी हुकूमत के खिलाफ बंगालियो का सशस्त्र प्रतिरोध शुरू हो गया था। कर्जन जब बड़ा लाट होकर आया तो उसने बंगाल को दो हिस्सो मे बांटना चाहा। वहां की शिक्षित और अशिक्षित समूची जनता ने अंग्रेज शासकों की इस कुटिल नीति का विरोध किया। नौजवानों ने कई गोरे अफसरो को मार डाला। और क्रान्ति की एक नई परंपरा हिंदुस्तान में शुरू हुई। साम्राज्य शाही बौखला उठी तो दमन का चक्र और जोरो से चलने लगा। अंग्रेज कूटनीतिज्ञ गोखले और गांधी जैसे नेताओं की उतनी परवाह नही करते थे। क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठनों की उभार तो ब्रिटिश प्रमुखो की नींदहराम किए रहती थी।" (पृ० 77-78)

देश में तेजी से बढ़ते हुए विदेशी माल की स्थिति को बाबा बटेसरनाथ बड़ी गंभीरता से कह रहा है। वह जैकिसुन को आगाह कर रहा है कि भारत मे अंग्रेजों का दमन का प्रारूप मात्र शासकीय ही नही था आर्थिक भी था। देशी कुटीर उद्योग धन्धों के नष्ट होने और विदेशी माल की मंहगी ने भारत के प्रत्येक नागरिक की कमर तोड़ डाली थी। बरगद बाबा इसे संवेदनात्मक भाषा में स्पष्ट कर रहा है—

"चमार जूते बनाना भूल गये थे। मोमिनों के पांच करघे थे सो अब एक ही रह गया। चीनी की आमद ने गुड़ के व्यापार को चौपट कर दिया। बटन, सुई, आईना, कंघी, उस्तरा और कैंची—कपड़े, खेती के औजार, बाहरी माल आ-आकर स्थानीय उद्योग-धन्धों का गला दबाने लगे। तेजी और मंदी के दो पाटों में पड़कर अनाज का एक-एक दाना कराह उठा, बेटा! अनाज का एक-एक दाना ही नहीं, गांव का एक-एक आदमी कराह उठा, बेटा! बर्तन में पानी तो पहले ही कितना आता था लेकिन छेद उसमें एक के बदले अनेक हो गये थे।" (वही, पृ० 82)

आजादी के लिए सभी लड़ रहे थे। उसमें सभी की खुशहाली का स्वप्न छिपा था। बाबा बटेसरनाथ रुपउली गांव के अन्दर व्याप्त चेतना को जन सामान्य की चेतना से संपृक्त बताते हैं। और यह सच है कि आजादी की लड़ाई में जो जिस योग्य था उसने वैसा ही बलिदान किया। अजीब समां था देश को स्वतंत्र कराने का—

"बबुआ, यह कोई चोरी-छिनारी की गिरफ्तारी तो नहीं थी, यह स्वाधीनता संग्राम की गौरवमय परम्परा का एक सामान्य प्रदर्शन था। गिरफ्तार होना, जेल के अन्दर कैद काटना, लाठियों की चोट बर्दाश्त करना, पुलिस और मिलिट्री के फौजी बूटों से कुचला जाना—इन बातों से जरा भी नहीं घबराते थे लोग। सत्याग्रह और पिकेटिंग त्योहार बन गये थे। पुलिस एक को गिरफ्तार करती तो उस एक ही जगह दस आदमी आ डटते, दस गिरफ्तार कर लिये जाते तो उन दस की जगहों पर सौ जवान खड़े हो लेते। घर वाले सत्याग्रह या पिकेटिंग के लिए जाते हुए अपने आदमी को माला पहनाकर और टीका लगाकर विदा करते, मानो वह शादी करने जा रहा है। गजब का जोश था बेटा, वह उत्साह का अपूर्व वातावरण था।" (वही, पृ० 82)

राष्ट्रीय आन्दोलन में रुपउली गांव से दयानन्द वीरभद्र आदि लोग जेल जाते हैं। बाबा उनके माध्यम से जैकिसुन को रास्ता बताना चाहते हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन में दयानाथ की भूमिका की प्रशंसा करते हैं। लेकिन वर्तमान प्रशासन की चाल से वह व्यथित है, इन दोनों छोरों को बाबा बटेसर दिखाते हैं—

"थानेदार और जिला के अधिकारियों से ही छूटकर यदि मरते रहे तो भारत माता की इज्जत आबरू लुट जायेगी—किस उमंग से दयानाथ नागपुर गया था झण्डा सत्याग्रह में शामिल होने! किस उत्साह से उसने नमक कानून तोड़ा था। उछलता हुआ कैसा दिल लेकर वह दोनों बार जेल के अन्दर पहुंचा था! हजारों और लाखों आदमी उसी की तरह जेल गए। सैकड़ों फांसी पर झूले, हजारों के परिवार टूटे—तब जाकर यह आजादी हासिल हुई है।" (वही, पृ० 110)

परन्तु यह आजादी कैसी और किसके लिए थी। यह आजादी हर गाव के बड़े लोगों, शहर के अफसरों और खाते-पीते घराने के लोगों के लिए थी उन्हें ही चैन से रहने देने के लिए यह इतना बड़ा कांग्रेस की ओर से तमाशा हुआ था। बाबा बटेसर समझाता है—

"आजादी! छि! आजादी मिली है हमारे उग्रमोहन बाबू को, कुलानन्द दास को—कांग्रेस की टिकट पर जो भी चुने गये हैं उन्हें मिली है आजादी, मिनिस्टरों को तो ऊंचे दर्जे की आजादी मिली है। सेक्रेटेरियट के बड़े साहबों को भी आजादी से फायदा

पहुंचा है।" (वही, पृ० 110)

इन घटित घटनाओं के माध्यम से बाबा बटेसरनाथ ने रुपउली गाव की सम सामयिक परिस्थिति का बडे ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होने गाव के युव प्रतिनिधि जैकिसुन को सम्बन्धित बातों से अवगत कराकर उसे अधिकार बोध के लि प्रेरित किया। डॉ० विजय बहादुर सिंह इस पूरी पृष्ठभूमि में संघर्ष को सूत्र की तला मानते हैं—

"इतिहास और राजनीति या राजनीतिक इतिहास को प्रस्तुत करते हुए लेख नयी पीढ़ी को वह पृष्ठभूमि देना चाहता है जिसके सहारे हमारी समकालीन राज नीतिक चेतना का विकास हुआ है। यही वह बिन्दु है जहां वह नए युग के व्याख्याका के रूप में हमारे सामने हैं। सत्युग की व्याख्या करते हुए वह इतिहास के उन पक्षों क ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जिन पर अब तक निगाह ही नही थी हमारी। औ फिर यह उसका कथन कि असली स्वर्ण युग (सत्युग) तो अभी आने वाला है वस्तुत हमारी जातीय दृष्टि को अतीत से मुक्त कर भविष्य से जोड़ने का काम करती है।" (नागार्जुन और उनका रचना संसार, पृ० 122-23)

नागार्जुन भूदान आन्दोलन की नाटकीयता से भी परिचित हैं। बडे-बड़े जमीदा और भूस्वामी निरर्थक जमीन को दान मे देकर इलाके मे नाम कमाकर नयी सुविधा क तलाश करते हैं। उनका नाम अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं मे छपता है। परन्तु जब गरीब अपने श्रम से समतल और उपजाऊ बना लेता है तो उनकी लार उसे हड़पने के लिए भ टपकने लगती है। और इससे अधिक नीचता का काम दूसरा नही हो सकता। परन्तु गरीब व्यक्ति मिली हुई जमीन को आसानी से नही छोडता वह उसके लिए हथिया उठा लेता है और सशस्त्र सघर्ष करता है। 'उग्रतारा' उपन्यास मे भभीखन सिंह क जेल के अन्तर्गत इसी प्रकार का जेली जीवन, सजा काट रहा है—

"इस अधेड़ कैदी को भभीखन सिंह बहुत मानते थे। जमीन की बेदखली के खिलाफ उसने जमकर लडाई लड़ी थी। भूदान मे मिली हुई ऊबड़-खाबड़-जंगली जमीन को उसने खेती लायक बना लिया तो पुराने भूदानी की लार टपकने लगी। फिर से कही रद्द जमीन देकर वे उससे अच्छी जमीन छीनना चाहते थे। मारपीट हुई गडासा चल गया। भूदानी बाबू के आदमियों में से एक को इतना घाव लगा कि अस्पताल तक पहुंचते-पहुचत बेचारे के प्राण पखेरू उड गये। मुकदमा चला इसे नौ वर्ष की सजा हुई।" (पृ० 24)

यह दुर्दशा आज तक चली आ रही है। भूमिहीनो को सरकार द्वारा दी जाने वाली जमीन का नाटक आज भी दूसरे रूप में जारी है। लोगों मे असतोष से गांव मे फौज-दारियों का फिर एक सिलसिला शुरू हुआ है। बेचारा गरीब हर तरह से पिटता है। एक ओर गांव का खाता-पीता आदमी उसकी अस्मिता नष्ट करता है तो दूसरी ओर पुलिस का जुल्म उसे चैन से नही बैठने देता। भभीखनसिंह इस स्थिति की निन्दा करता है—

"वह नही मानेगा। जरूरत पड़ी तो फिर गड़ासा उठा लेगा। भला यह भी कोई कायदे की बात हुई? आपने जमीन रद्दी-फद्दी जानकर विनोबा बाबा को दान कर दी

और भूदान कमेटी ने उस जमीन को जीवन के हवाले किया। लिखा-पढ़ी पक्की हुई, जीतन ने हड्डी तोड़ मेहनत की और उस जमीन को सोने का टुकड़ा बना लिया। तो अब आपके मुह से लार क्यों टपकती है ? यह आदत बहुत खराब है बाबू साहब, रद्दी-फद्दी औरों के लिए मान-टाल अपने लिए।" (वही, पृ० 24)

इस तरह नागार्जुन ने राजनीतिक गतिविधियों से देहाती जीवन में उभरने वाले राजनीतिक संघर्ष को उसकी खास पृष्ठभूमि में पनपने दिया है। उनके पात्र अपनी सम-सामयिक घटनाओं से भी प्रेरणा लेकर अपने अधिकार और विश्वास की सुरक्षा के लिए आगे आते हैं। वे अब अपनी जान पर खेलने से भी नही कतराते हैं। क्योंकि आगत भविष्य उन्हें अधिकार दे रहा है, अतः वे उसके लिए कमर कसकर खड़े हुए हैं।

किसान और जमींदार संघर्ष

आजादी से पहले भारत में साम्राज्यवादी अंग्रेज, पूंजीपति और जमींदारों के त्रिकोणात्मक शोषण में जनता का निर्वाह हो रहा था। इन्ही तीनो के मिले-जुले आतंक से समाज के अन्दर विविध स्तरो पर नैतिकता, अनैतिकता को बढ़ावा मिल रहा था। लम्बे संघर्षों और जन-आन्दोलनों के बाद देश आजाद हुआ। साम्राज्यवादी शोषण से मुक्ति मिली परन्तु पूंजीपति और जमींदार अभी बरकरार हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय नेताओं ने देश के विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम निर्धारित किये जिसमें कृषि को सर्वोच्च वरीयता दी गई। किसानों और मजदूरों को सामंतों और जमींदारों के शोषण से मुक्त करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत ही जमींदारी उन्मूलन किया गया। यह स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषक और मजदूर की जिंदगी में सुधार लाने का पहला प्रयास था।

परन्तु जमींदारी उन्मूलन के बाद गांवों के अन्दर बडी ही विषम परिस्थिति ने जन्म ले लिया। गांव वैचारिक स्तर पर दो हिस्सो मे बंटने लगे। एक ओर गांव का जमींदार और उसके कर्मचारी, दूसरी ओर किसान, खेतिहर मजदूर और नीचे दर्जे के लोग जो खेती पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे अपनी जीविका चला रहे थे।

यद्यपि जमींदारी उन्मूलन इकतरफा नही था। एक ओर उनसे मध्यस्थ सत्ता को लिया गया था तो दूसरे, उन्हें मुआवजे के रूप में शासन की ओर से लाखों रुपये की धनराशि वार्षिक आय के रूप मे बिना हाथ-पैर हिलाये ही मिलने लगी। फिर भी उन्हें इतने भर से संतोष नही था। वर्षों से निरीह जनता का खून चूस-चूस कर उसे बेदम करने, उसके ऊपर जुल्म करने का उन्हे जो शौक लग चुका था अब यह एकाधिकार समाप्त होने पर वे तिलमिला उठे।

जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ सरकार ने बड़े भूस्वामियों की खेती की सीमा की भी हदबंदी कर दी थी। फिर भी बहुत सारी जमीन को बंजर, पोखर, बाग, चरागाह

आदि घोषित कर उन्होंने उसे अपने कब्जे मे ले लिया था और उन्हे अपने बालिग-नाबालिग परिवारी सदस्यों के नाम लिखाकर फिर चैन की वंशी बजाने लगे। डैनियल कार्नर ने इस सत्य को अपनी पुस्तक मे स्पष्ट किया है—

"बिहार मे जमीदारी उन्मूलन के बाद भी पाच सौ या सात सौ ही नही एक हजार एकड़ की जमीदारियां साधारणतः हैं। इस रूप में अब भी जमीदारो के पास काफी जमीन है।" (ऐग्ररियन प्रास्पैक्ट इन इण्डिया, 1956, पृ० 34)

इस तरह जमीदारी उन्मूलन ने भारत के गांवों मे एक अजूबा वातावरण पैदा कर दिया। यह व्यवस्था हुई तो आम जनता को सहूलियत देने के लिए थी। लेकिन इसका दुष्परिणाम ही सामने आया। सरकार मे उन्ही जमीदारों के नाते-रिश्तेदार थे, सरकारी कार्यालयो और ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर इन्ही के सम्बन्धी थे, अतः कानून के छोटे छेद म से हाथी निकालने की बात इन्ही लोगों ने सिद्ध कर दी। इसलिए आज फिर गाव मे संघर्ष का वातावरण बना हुआ है। छोटा-मझोला आदमी अपने अस्तित्व के लिए लड़ रहा है। डॉ० नरेन्द्र मोहन इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"स्वतन्त्रता-प्राप्ति महज एक घटना नही होती यह उस देश के लोगो की अदम्य मुक्ति कामना, संघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है। स्वतन्त्रता के पीछे एक लम्बे संघर्ष का इतिहास रहता है और यह संघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आभास देता है।" (आजकल (मासिक), अगस्त 1972, पृ० 14)

इसलिए स्वतंत्रता के बाद दबे-पिसे लोगों में एक आत्म-विश्वास और अपने अधिकार के लिए अत्याचार के खिलाफ सिर उठाने की प्रवृत्ति का नूतन जन्म हुआ है। अतः राजनीतिक चेतना से जुड़कर ग्रामीण लोग अपने इन शोषकों के खिलाफ संगठित होकर खड़े होते हैं। वे अपनी व्यक्तिगत आजादी के लिए उनसे लड़ रहे हैं। आजादी के बाद का साहित्य इसका प्रामाणिक दस्तावेज है—

"स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने इस सर्वतोमुखी जागरण काल मे गाव और समस्याओं से जूझ रहे किसानों को देखा, उनकी जिन्दगी के अभावों के ढेर, यातनाओं के संकट को अनुभव किया और संवेदनाओं के स्तर पर उन्हे अभिव्यक्ति दी। नागार्जुन के उपन्यासों ने इस क्षेत्र मे पहल की है।" (डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० 50)

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' मे जमीदारो के जालिमाना कार्यों का संवेदना के स्तर पर चित्रण किया है। जमीदार वास्तव में पैदाइश से ही शोषण के नए तरीके सीखता रहता है। उसके वारिश विरासत में यही सीखते हैं, इससे इतर कुछ नही। अतः जमीदारी उन्मूलन के बाद जब जमीदारों के अधिकारों, उसकी सम्पत्ति आदि को सीमित किया गया तो वे तिलमिला उठे। वे अपनी सत्ता और सम्पत्ति के रख-रखाव के लिए फाजिल जमीन बेचने लगे। परन्तु किसान जिसे आजादी की रोशनी ने अधिकार का रास्ता दिखा दिया, वह खड़ा हो गया। क्योंकि वह वर्षों से उस जमीन को जोतता चला आया था उसे उसके इस पुश्तैनी हक से जालिम जमीदार कैसे वंचित कर सकता है, वह संघर्ष के लिए उतारू है—

"अभी कुछ दिन पहले उनकी जमीदारी के किसी दूसरे मौजे में किसान आंदोलन ने जोर पकड़ा, रैयतों ने अपनी जोत की तीस बीघा जमीन छोड़ने से साफ इन्कार कर दिया। मालिक उसे पड़ोस के किसानों के हाथ बंदोबस्त कर देना चाहता था। जो पच्चीस वर्षों से उस जमीन को जोतते-बोते और फसल काटते आ रहे थे वे लोग डट गए—इस पर हमारा हक है। तनातनी बढ़ी सरकार ने एक सौ चौवालीस दफा लगाकर जमीन को साल साफा और लम्बी लाठी की अपनी निगरानी में ले लिया। किसानों ने सत्याग्रह आरम्भ किया। मालिक के लठैत और पुलिस वाले मिल गए। ऊपर कांग्रेसी मंत्रिमडल था, नीचे धरती माता थी। सत्याग्रही पृथ्वी पुत्र जब पिटने लगे तो खून से तिरंगा लाल हो उठा। इस छोटे से महाभारत में दो कुर्मियों और एक ब्राह्मण की जान गई।" (वही, पृ० 107)

ताराचरण आधुनिक चेतना से सम्पन्न युवक है। वह ग्रामीण चेतना के लिए 'आज' पत्र को मंगाकर लोगों को उनकी समस्याओं के बारे में बतलाता है। वह जमीदारों के खिलाफ गांव में किसान-कुटी बनाता है—

"किसान संगठित होने लगे। उनका नारा था कमाने वाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो।···गाव में से दो-तीन लीडर निकल आए। बलुआहा पोखर के भिंडे पर किसान-कुटी बन गई। घर-घर से मुठिया वसूल होने लगा। किसान-कुटी के लिए किसी ने लोटा दिया, किसी ने थाली दी। कुम्हार ने घड़े दिये, तौला दिया, कड़ाही दी। उमानाथ की मा ने अपना दो साल का पुराना कम्बल दे दिया।···आंदोलन की बातें इस तरह बढ़ा-चढ़ाकर राजा बहादुर के कानों में डाली गईं कि वे बदहवास हो गए। बढ़िया-से-बढ़िया धनहर खेत सौ या पचास रुपये फी बीघा लुटाने लगे। आख लगते झोपड़ी जो आवे सो हाथ। किसान बित्ता-भर भी जमीन छोड़ने को तैयार नही थे। उनमें गजब का जोश था। उनके लीडर दरभगा और पटना तक दौड़ लगा रहे थे।···सभा, जुलूस, दफा एक सौ चवालीस, गिरफ्तारी, सजा, जेल, भूख-हड़ताल, रिहाई—यह सिलसिला किसानों को ठण्डा नही कर सकता।" (वही, पृ० 92-93)

उपन्यास का ताराचरण अब जमीदार के खिलाफ खुलकर सामने आता है। वह उसके किसी भी काम में सहयोग देने के लिए तैयार नही है। उसकी भूमिका से वह अच्छी तरह वाकिफ है। इसलिए वह सीना तानकर मालिक द्वारा बुलाई गई नाटक कम्पनी पर कहता है—

"जमाना बदल गया है, जब हम अंग्रेजों की नाक मे कौड़ी बांधते है तो राजा बहादुर की क्या बिसात? उनका दामाद खुद आकर हमे लिवा ले जाये, तब चलेगे। अन्त मे हुआ यही कि दो-एक बूढ़ों को छोड़कर और कोई नही गया।" (वही, पृ० 159)

यह किसान आदोलन जन-चेतना के साथ जुड़ा हुआ था अतः किसानों और मजदूरों का बहुत बड़ा वर्ग इस आंदोलन के साथ-साथ चल रहा था।

नागार्जुन किसानो और मजदूरों के लेखक है। अतः उन्होने किसानों और मजदूरों की समस्या को गम्भीरता से लिया है। किसानों का जमीदारो से संघर्ष उसके स्वरूप

की एक स्पष्ट स्थिति है। डॉ० एम० रवीन्द्रनाथ ने नागार्जुन के इसी झुकाव की 'रतिनाथ की चाची' में प्रशंसा की है—

"'रतिनाथ की चाची' का वर्ण्य विषय भिन्न होते हुए भी विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित है, नागार्जुन ने इसमें सन् 1937-39 ई० के लगभग बिहार प्रांत में किसानों का जो सशक्त आंदोलन चला था, उसका चित्रण किया है।···उनका उद्देश्य किसानों को यह दिखा देना है कि संघर्ष में उनका सहयोग कौन करेगा और कौन-कौन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का समर्थन करते हुए विपक्ष में खड़े होंगे। इसलिए नागार्जुन ने जयदेव जैसे समाज के कोढ़ियों तथा जिला किसान सभा के प्रमुख नेता की लालची मनोवृत्ति एवं अवसरवादिता को दिखाकर उन्हें किसान संघर्ष के हत्यारों के रूप में चित्रित किया और किसानों को ऐसे नेताओं के प्रति जागरूक रहने का आह्वान दिया।" (मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, पृ० 182-83)

वास्तव में नागार्जुन को कृषक वर्ग से बड़ी हमदर्दी है। दिन-रात हाड़-तोड़ मेहनत करके वह साहूकार और सेठ का पेट भरकर बचे-खुचे सड़े-गले अनाज से अपना और अपने परिवार का जानवरों की तरह भरण-पोषण करता है। इसलिए उसके शत्रु और मित्र को नागार्जुन पर्दे के बाहर इसीलिए नहीं रखते कि दूसरे लोग देखकर उससे प्रेरणा ले सकें, अपने ही बीच के आस्तीन के साप को देख सकें।

'बलचनमा' तो किसान और मजदूर की जिन्दगी का प्रामाणिक दस्तावेज है। वह जमींदार के यहां गुलामी करता हुआ धीरे-धीरे पिटकर, भूखा रहकर, सरक-सरककर एक दिन संघर्ष के दरवाजे पर आ खड़ा होता है—

"बलचनमा अनेक शोषण और अन्यायों को भोगता हुआ अपने नंगे, भूखे श्रम के बलबूते पर चरवाहे से बहिया (पुश्तैनी गुलाम), बहिया से कांग्रेसी वालंटियर, स्वयंसेवक नौकर से खेत मजदूर, खेत मजदूर से किसान और किसान से किसान नेता बनता है। उसका ऐसा रूपांतरण सीमित जीवन के तमाम खंडांशों को भोगने के साथ-साथ ही होता है। साथ-ही-साथ वह सही और गलत सम्बन्धों की पहचान करता है। यह पहचान ही उसकी राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना को जन्म देती है।" (डॉ० रमेश कुन्तल मेघ : क्योंकि समय एक शब्द है, 1975, पृ० 281)

जमींदारी उन्मूलन के बाद जमींदार फाजिल जमीन को अपने अधिकार में लेने की साजिश चुपके-चुपके करने लगे। खेतिहर मजदूरों और बटाइदारों से उन्होंने चोरी-छिपे अंगूठा टीप लिया। महपूरा का जमींदार खान बहादुर साहुल्लो खां आठ-दस मौजे की मालगुजारी के मालिक हैं। ढाई-तीन सौ की खुद की काश्तकारी है। इसके साथ ही हजारों बीघा जमीन मनखप लगी हुई है। लेकिन नीयत साफ न होने के कारण यह सब कुछ भी थोड़ा है। वे गरीब की दो-चार बीघे जमीन को भी आंख की किरकिरी मानने लगे और उनकी इस जीविका को हड़पने के लिए जी-तोड़ चोरी-छिपे कोशिश करने लगे। उनकी इस साजिश में कुछ किसान और शामिल हो जाते हैं। वे गरीबों का शोषण अपनी हड़पनीति से देते हैं—

"मगर खान बहादुर नहीं बैठे रहे, भीतर-ही-भीतर उनका जमींदारी दांव-पेच

बढ़ता ही गया। गरीब किसानों की यह जमीन अपने-अपने नाम चुपचाप लिखा कौन रहे थे ? बड़े-मझले किसान जो अक्सर हमारी तरफ के बराहमन, मुइहार, शेख और सूड़ी महाजन होते है—यही हड़पना चाहते थे गरीबों के मुट्ठी-दो मुट्ठी भात को।" (बलचनमा, पृ० 162)

किसान और मजदूर इस भारतीय डलहौजी की शोषण की नीति का गोलबन्द होकर मुकाबला करते हैं। वे समाजवादी चेतना से सम्पन्न डॉ० रहमान से मिलकर अपने संघर्ष का पैंतरा तैयार करते हैं। वे अच्छी तरह समझते है कि जमींदार बहुत बड़ा जालिम है। उसके पक्ष मे बड़े-बड़े लोग हैं लेकिन फिर भी ये सामूहिक रूप से अपने हक की लड़ाई के लिए लड़ते है। डॉ० रहमान का नेतृत्व उन्हे आशा बंधा रहा है। यह कांग्रेसी का वचन नही जोकि शांति और अहिंसा का पाठ पढ़ाकर अपनी ही बात से मुकर जाये। यह एक सोशलिस्ट का दिया हुआ वचन है जिसमें संघर्ष की एक विशिष्ट राजनीति है—

"उन दिनो सोशलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया ! वे जो कुछ कहते उसे करने की भी कोशिश उन्ही की ओर से होती थी। मजूरों की हड़ताल हो चाहे किसानों का आंदोलन सोशलिस्ट भाई उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लेते थे—खान बहादुर के खिलाफ लड़ाई छेड़ने का रास्ता बता दिया। किसानों का सगठन अखबारों से जमींदारों की जालिमाना हरकतों का प्रचार, कम-से-कम पचास वालंटियरों की बहाली, बीस-पच्चीस मन अनाज और सौठों रुपैया, इलाके भर के किसानो की एक मीटिंग···।" (वही, पृ० 162)

अतः संघर्ष का आह्वान सामूहिक तौर पर खेती की लड़ाई के लिए होता है। महपुरा के किसान जालिम जमींदार के खिलाफ अपना साहस बटोरकर मैदान में उतर आते है—

"उस जालिम जमींदार का मुकाबला अकेले तो कोई नही कर सकता था ? उसकी पीठ पर थाने के दारोगा साहब थे, दरभंगा के कलक्टर साहब थे, इलाके भर के जमींदार, पण्डित और मौलवी सब खान बहादुर के पक्ष में थे। पश्चिम के दस लठैत जवान नेपाल के पांच खुखरी बहादुर···बड़ा ताकतवर था खान बहादुर। अकेले कौन उससे भिडता ? लेकिन सौठों साली लाठी एक जगह ही जायें तो उसका एक भारी बोझ बन जाता है। अपनी-अपनी धरती के लिए किसान एक होने लगे···रैयत लोगों ने तय कर लिया था कि लाश गिरे तो गिरे मगर अपने खेत दूसरों के दखल में नहीं जाने देंगे।" (वही, पृ० 162-63)

किसान सभा का आयोजन डॉ० रहमान महपुरा गांव मे किसान संघर्ष के लिए करते हैं। किसानों के ऊपर होने वाले जुल्म को वे सोशलिस्ट भाइयो के विचारों से स्पष्ट करते है—

"कांग्रेस आपका दुःख-दर्द क्या समझेगी, वह खादी पहनकर और गले में माला डालकर जमींदारों को जेल भेजने का नाटक करती है। पीछे जेल से निकले वही जमींदार कांग्रेसी आप लोगो को शांति और सन्तोष का सबक सिखाते फिरते हैं···खबरदार भाइयो···आप अकेले नही हैं, करोड़ो की तादाद है आपकी। आप जब उठ खड़े होंगे

और एक कण्ठ होकर हुंकार करेंगे तो जालिम जमीदारों का कलेजा दहलने लगेगा। वे हैं ही कितने दाल में नमक के बराबर···संगठित होकर एक हो जाइए। जान जाए तो जाए मगर जमीन नहीं छोड़िए और अदालत-कचहरी के इर्द-गिर्द कभी मत जाइए··· खान बहादुर हो चाहे महाराज बहादुर कोई आपका हक नहीं छीन पायेगा। आप अपनी ताकत को पहचानिए। बोलिए सब मिलकर इन्कलाब।" (वही, पृ० 167-68)

महपुरा में होनेवाली इस किसान सभा ने फूस में चिनगारी का काम किया। आस-पास के गांव और किसान अपने गिरहबान में झांककर अपना अस्तित्व पहचानने लगे। आस-पास के मालिक लोग जो किसानों से अनाज का ड्योढ़ा-सवाया यमराज की तरह वसूलते थे अब उनके भी पैरों की मिट्टी सरकने लगी। बलचनमा भी अपने गांव रामपुरा में महपुरा जमींदार की खिलाफत के देखा-देखी संघर्ष के लिए उठ खड़ा हुआ। बलचनमा का खेत उसकी नाबालिगी में मझिले मालिक ने अपने कलमी बाग के लिए पहले ही हड़प लिया था। अन्य छोटे-छोटे किसानों की किमनई को भी वे अब निगलने लगे थे। क्योंकि महपुरा गांव इलाके भर के किसानों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन रहा था। गांव के तमाम लोग अब संघर्ष के लिए उतारू हो गए। उन्होंने तय कर लिया था कि अब और बित्ता-भर भी जमीन मालिकों को नहीं हड़पने दी जायेगी। और इसका विस्फोट हुआ सब्बे बीघा जमीन पर जिस पर सैकड़ों वर्षों से गांव के तीस किसान (मुसलमान, ग्वाला और केवट) खेती करते चले आ रहे हैं उसे मालिक के परदादा ने चालाकी से अपने नाम चढ़ा लिया था। तीसों किसानों के नाम अचानक अदालत का सम्मन चार साल की मालगुजारी बकाया वसूल होने के कारण आ जाता है। (वही, पृ० 184) यह मझिले मालिक की बुद्धि की उपज थी। स्थिति यह थी कि किसान प्रतिवर्ष मालगुजारी चुकाते चले आ रहे थे। सम्मन से किसानों में भय का वातावरण नहीं बनता बल्कि महपुरा के गांव का समूचा दृश्य सामने आता है जिसमें किसानों और जमींदारों की फसल की छीना-झपटी में एक किसान ने जान दे दी थी। दफा एक सौ चवालीस तोड़ने पर दो-ढाई दर्जन किसानों की गिरफ्तारी होने पर भी फसल किसानों को ही मिली थी।

अतः पूरा गांव किसान सभा की सदस्यता को लेकर संघर्ष को आगे बढ़ाता है। चेतना से आत्मीय जुड़ाव होने के कारण ही मनिभर चाचा से लेकर शेख अब्दुला तक, ताराचन्द बाबू से लेकर नीरो अमात तक और फूदन मिसिर की विधवा मुसम्मात से लेकर हमीदा, कुंती आदि तक किसान सभा के इकन्निया मम्बर बन जाते हैं। यह सब मालिक लोगों के शोषण का ही परिणाम है जिनके सूद-दर-सूद के लपेटे में सारे गांव की जनता तबाह हो जाती थी। एक रुपया साल भर में डेढ़ रुपया, और एक मन धान डेढ़ मन हो जाता था। अतः वे बड़े धैर्य और साहस से काम लेते हैं। संघर्ष की रणनीति बलचनमा के नेतृत्व में तय होती है। डॉ० रहमान महपुरा से आ जाते हैं। रामपुरा के सभी किसान जमीन न छोड़ने की कसम लेते हैं और महपुरा गांव के आंदोलन की कमजोरी आदि को दुरुस्त करते हुए *बलचनमा अपने संगठन को दृढ़ करता है—*

"जमींदार और सरकारी अफसर दुरजोधन ठहरे उनको जुधिस्ठर नहीं पस्त कर सकते भैया। पिटाई पर पिटाई खाना और भेड़-बकरी की तरह पकड़ा कर जेल चले

जाना बहादुरी नही है। ऐसी सिधाई से पूजा तुम्हारी हो तो जमीन मुई की नोंक भर भी नही मिलने की हां।" (वही, पृ० 185)

हड़पी हुई जमीन को वापस दिलाने के लिए गांव मे 'किसान सभा' का आयोजन करना मजदूरो और किसानों की संघर्षशीलता का परिणाम है। किसान अपने अधिकार को अच्छी तरह पहचान गए हैं। अतः वे समाजवादी नेतृत्व से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। कॉमरेड शर्मा जी के शब्द उनके कानों मे गूजते रहते हैं—

"जमीदार बड़ा पपंची, बड़ा जालिम होता है। अउअल तो पहले वह तुम्हारे अन्दर आपस मे फूट डालने की कोशिश करता होगा, नही, तुम सभी एक ओर मजबूत होकर अपनी जमीन पर डटे ही रह गए तो वह पैसे के बल मे तंग करेगा, अफसरों से मिलकर वह तुम लोगो को जेल भेजने की कोशिश करेगा—मगर खबरदार अपने खेतो से न हटना—पुलिस और हाकिमों से साफ कह देना कि इन्ही खेतों को जेल बना दीजिए, हम पडे रहेगे मानेंगे नही—सैकड़ो आदमियों को ले जाने के लिए हजारों सिपाही और पचीसों लारियां चाहिए—फिर देखना कौन तुम लोगों को कहां ले जाता है। अगर तुमने मेरी यह बातें मान ली और डटे रहने का निश्चय कर लिया तो फिर तुम्हारे खेतो पर से तुम्हें हटाने वाली कोई ताकत इस दुनिया मे नही है।" (वही, पृ० 169)

इसीलिए मालिक लोगों के लाख प्रलोभनो और दबावों के बावजूद भी किसानों मे फूट नही पड सकी। बल्ली बाबू जैसे बड़े किसान भी जमीदार का साथ दे रहे थे। मालिक ने सरकारी अफसरो की छत्रछाया में मिलिटरी वालो से झगडे वाली जमीन कटवा ली।

बलचनमा को बार-बार उसके जान-माल की धमकी दी जाती है। स्वयं छोटी मलिकाइन बलचनमा की मा और पत्नी को बुलाकर सीधे-सीधे कह भी देती हैं—बलचनमा अपनी हरकतों से बाज नही आया तो घर फुकवा दूगी। यद्यपि बलचनमा की अब घर-गिरस्ती और अठारह महीने की बिटिया, वृद्धा मां, जवान पत्नी हैं। परन्तु वह घुसकर तमाशा देख रहा था। वह धमकियों और चुनौतियो से और अधिक उग्र हो जाता है। उसकी गतिविधियां दिनोंदिन बढ़ती जाती है। पार्टी आश्रम मे आवाजाही और सोना-बैठना बढता चला गया। और अन्त में एक दिन उसकी मौत का कारण यही गांव की राजनीति मे सक्रिय भाग लेना होता है। जमीदार के पालतू गुण्डे रात में उसका कत्ल कर देते है। परन्तु बलचनमा अपने पीछे वसीहत के नाम पर कुछ छोड़कर जाता है जो आगामी पीढ़ी का दिशा-निर्देश करते हैं—

"कमाने वाला खायेगा इसके चलते जो कुछ हो—धरती किसकी—जाते बोये उसकी। किसान की आजादी आसमान से उतर कर नही आयेगी वह परगट होगी नीचे जुती धरती के भुरभुरे ढेलों को फोड़कर…।" (वही, पृ० 192)

बलचनमा का यह किसान संघर्ष आजादी से पूर्व की अवस्था का है जबकि वह हर तरफ से अकेला है। आंदोलन मे बड़े लोग, सरकार मे जमीदार और अफसरो मे बडे घरों के बेटे हैं जोकि उस और उसकी बिरादरी के लोगो की परछाई तक से घृणा करते हैं परन्तु बलचनमा अपने साहस और विश्वास के साथ किसान सभा का आश्रय लेकर

"और तेरी यह आजाद सरकार इन सामंती श्रीमतों को ज्यादा-से-ज्यादा हरजाना देने की तिकड़म भिड़ा रही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के वाजिब हकों का दायरा बेहद बढ़ाकर जमींदारी प्रथा का यह जो नकली श्राद्ध कांग्रेसी लोग कर रहे हैं, क्या नतीजा निकलेगा इसका ?" (बाबा बटेसरनाथ, पृ० 33)

इसलिए जमींदार वर्ग कभी घाटे मे नहीं रहा। उसके राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होने का उद्देश्य ही यही था। यही कारण था कि उसने आन्दोलन के नाम पर विदेशी सत्ता की तमाम यातनाएं सहीं। और मध्यवर्ग तथा निम्न वर्ग के लोगों को सहज संघर्ष के लिए यह कहकर कि आजाद भारत मे सबका भाग्य चमकेगा जैसे स्लीपिंग पिल्स देकर उनकी कुर्बानी देता गया। अतः सरकार बनी तो वह फिर शासक बना और उसने तमाम व्यवस्थाएं अपने घर और वर्ग के लोगों के लिए सुरक्षित रखी।

जमींदार उन्मूलन मे फाजिल जमीन जो कि जमींदारों के नाम बाग, चरागाह, पोखर आदि के नाम से थी अब वह सार्वजनिक करार दी गई। परन्तु जमींदार कब चुप बैठता उसकी पैनी निगाह इन्हीं उपयोग की जमीनों पर आकर टिक गई। बरगद बाबा सुनाते हैं—

"भागते भूत की लगोटी भली। जाते-जाते ये जमींदार सार्वजनिक उपयोग की इस भूमि को भी बेचे जा रहे थे। पता है तुझे ? इस जमीन की कितनी कीमत मिली है उन्हे ? दो सौ रुपये।" (वही, पृ० 12)

अतः यह वह सिलसिला है जिसने ग्रामीणों को अपने लुटते हुए अधिकारों के प्रति सचेत किया है। वे इस जमींदार के खिलाफ सिर उठाते हैं जिसका स्वतंत्रता पूर्व बहुत भारी आतंक था। यातनाएं कितने तरह से दी जाती हैं दिन-रात उनकी अक्ल इसी मे लगी रहती थी।

नागार्जुन के चिंतन का व्यापक फलक है। वे संघर्ष के मुद्दों का बुनियादी सूत्र तलाश करते है। उन्होंने किसान के शोषकों की बड़ी गहराई से पहचान की है। उन्होंने किसानों के दुश्मनों की देख-रेख कर फहरिश्त तैयार की है। गांव में जमींदार के साथ-साथ उभरने वाला बड़ा भूस्वामी भी छोटे किसानों और मजदूरों का घातक शत्रु है। यह 'नया भूस्वामी' मध्यम दर्जे की औकात को अव्वल दर्जे की बनाने के लिए जमींदारों से सांठ-गांठ कर किसानों के शोषक के रूप मे उसकी बड़ी घातक भूमिका के साथ उभरा है। बाबा बटेसरनाथ मे रूपउली गांव के अन्दर जयनारायण झा और टुनाई पाठक इसी वर्ग के प्रतिनिधि है। बड़ा जमींदार इन्हें ही कवच के रूप मे इस्तेमाल करता है इस तरह जनता के तिहरे शोषक की गति और तेज होती है। इस वर्ग की बढ़ती हुई स्थिति पर नागार्जुन ने कहा है—

"टुनाई मैट्रिक फेल कर गया तब से कहीं बाहर नहीं गया। लोगों मे फूट डालकर वह नया-नया प्रपंच रचने लगा। यह व्यवसाय उसके लिए बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ।···पिछली दफा किसानों मे उभार आई और जमींदार घबरा उठे। कांग्रेस वालों की पहली मिनिस्ट्री का जमाना था। मगर उस संघर्ष से ज्यादा फायदा किसने उठाया ? इसी सियार ने उस आन्दोलन का सर्वाधिक लाभ हासिल किया। सोने के

टुकड़ों से पाँच बीघा घर-हर-खेत सिर्फ ढाई-सौ नगद देकर टुनाई पाठक ने राजा बहादुर से लिखवा लिये । तीन पुश्त की अपनी सारी कमाई लगाकर भी ऐसी जायदाद उसकी जितनी मामूली हैसियत वाला भला कहां कर सकेगा ? ऐसा है यह जालिम जैनरायन की भी जीभ अब काफी निकल आई है—चार वर्ष जमालपुर, छः वर्ष मुगलसराय और पच्चीस वर्ष इलाहाबाद रह कर जैनरायन ने रेलवे में काफी रकम बनाई । अब पेंशन क्या पा रहा है । टुनाई पाठक की शागिर्दी कर रहा है; दोनों सुखी हैं, दोनों सम्पन्न हैं, दोनों के लड़के रुपया पीट रहे हैं, पर छछूंदर का दिल पाया है गधों ने । देख ही रहा है बेटा, कैसे दुर्दशा करा रहे हैं अपनी, इनका नाम ले-लेकर लोग कितना थूकते हैं—" (वही, पृ० 13)

अतः यह वर्ग जमींदारों का पिछलग्गू बनकर उनसे अपना मतलब निकालता रहा । ग्राम विकास की ओर इसका कोई ध्यान नहीं था । यह जमींदार के शोषण और स्वार्थ में सदैव साथ रहा । बाबा बटेसरनाथ के जैनरायन और टुनाई भी उन्हीं के परिवारी हैं—

"पिछले वर्ष की बात है । जमींदारी उन्मूलन शुरू किया सरकार ने जमींदार तो पहले से ही खोखले थे । अब उन्होंने सार्वजनिक उपयोग की भूमियों को चुपके-चुपके बेचना आरम्भ कर दिया । लालची किसान दो-चार दस-पांच किस गांव में नहीं होते ! टुनाई पाठक और जैनरायन झा ने राजा बहादुर से बरगद वाली यह जमीन और उधर वाली पुरानी पोखर चुपचाप बन्दोबस्त में ले ली । गांव वालों को मालूम हुआ तो वे क्रोध और घृणा से सुलगने लगे···गांव के दो-तीन जवान थाना-अदालत कचहरी से लेकर कांग्रेस कमेटी असेम्बली, पार्लियामेंट के प्रमुखों तक दौड़-धूप करने लगे ।" (वही, पृ०, 6-7)

बाबा बटेसर इस अन्याय को संघर्ष के माध्यम से ध्वस्त करना चाहते हैं वे आगामी भविष्य का संकेत देते हुए जैकिसन से कहते हैं—

"भविष्य तेरे जैसे तरुणों के हाथों में है—आज के ये राजा बहादुर सार्वजनिक उपयोग की भूमि, पोखर, चरागाह, श्मशान वगैरह चोरों की तरह चुपके-चुपके बेच रहे हैं । इतना बड़ा अन्याय अब दुनिया योंही बरदाश्त कर लेगी बेटा ! नहीं रे हरगिज नहीं ।" *(वही, पृ० 43)*

अतः बटेसर की प्रेरणा से जैकिसन और जीवनाथ आदि रुपउली के युवक जैनरायन झा और टुनाई पाठक के खिलाफ जिहाद छेड़ देते हैं । इसीलिए इन पर एक बोहम चमार को जिसे इन्हीं हत्यारों ने मारा था झूठा मुकदमा चलाकर जेल भेज देते हैं । परन्तु उससे ग्रामीण चेतना पर कोई असर नहीं पड़ता । एक ओर उनकी जमानत की तैयारी है तो दूसरी ओर वट-वृक्ष को बचाने के लिए प्रयत्नशील युवा वर्ग तैयार हो रहा है—

"मर्द चुप नहीं बैठे थे । एक तरफ हाजतियों की जमानत के लिए दौड़धूप जारी थी, दूसरी तरफ, बेदखली के खिलाफ प्रतिरोध आन्दोलन संगठित हो रहा था । ऊपर-ऊपर मामला ठण्डा दीखता था मगर अन्दर-ही-अन्दर दोनों ओर संघर्ष की तैयारियां चालू

थी।" (वही, पृ० 113)

अन्त में दयानाथ जैनरायन और पाठक का पोखरवाली जमीन पर हल नही चलने देता उसमे पूरे गांव के दबे हुए लोग उसे समर्थन देते हैं। सभी लोग उसका समर्थन करते हैं—

"जोरो की आवाज आयी उसी भीड़ के अन्दर से। दयानाथ ने देखा सभी तरह के लोग है, इनमें पण्डित शशिनाथ ठाकुर हैं, हाजी करीम बक्श हैं, मोसम्मात झुनिया है, अहीरों की बिरादरी के सोनउड़ महतो और सहदेव राउत हैं, भुट्टू पासवान हैं, विजय बहादुर सिंह सिसोदिया है, अहमदअली जोलाहा हैं। ढोलिया है अचकमनि मोसम्मात हैं—कौन नही है।" (वही, पृ० 116-17)

इस तरह किसानों को पहली सफलता जालिम जमीदार के खिलाफ संघर्ष से मिलती है। वे पोखर को उनके चुगल से निकलवाकर गाव की सार्वजनिक सम्पत्ति बना देते हैं। वे गाव मे किसान सभा और नौजवान सघ बनाकर गाव की खुशहाली बढ़ा देते हैं और गांव मे रजवाध पर नयी चेतना के रूप में बरगद का नया पौधा लाकर लगा दिया जाता है। ग्राम समाज की खुशहाली के प्रतीक के रूप में पताका के ऊपर सिन्दूरी अक्षरो मे—

स्वाधीनता
शान्ति
प्रगति

लिखकर किसानों का नया जीवन प्रारम्भ होता है।

'वरुण के बेटे' उपन्यास मे मछुओं के जीवन में क्रान्ति की सुगबुगाहट स्वर है। देपुरा के मैथिल जमीदार मलाही गोंढियारी पर शासन करते आये है। परन्तु जमीदारी खत्म होने पर वे लगान या मालगुजारी वसूलने से पृथक कर दिये जाते हैं। परन्तु विरासत में उन्हें जो कुछ मिलता है—

"व्यक्तिगत जोत की जमीन बाग-बगीचे, कुंआ, चमच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम चढी हुई जायदाद, चरागाह, परती-परांत, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि जैसी कुछ अचल संपत्तियो के मामले मे जमीदारी उन्मूलन कानून ने भूस्वामियो को खुली छूट दे दी। नतीजा यह हुआ कि पोखरो और चरागाहो तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे—आग लगते झोंपड़ी जो निकले सो लाभ।" (पृ० 29)

क्योकि गढ़पोखर मछुओ के मुंह का कौर है। मछली व्यवसाय से वे अपनी जिन्दगी बसर करते है। उनका पूरा भविष्य गढ़पोखर के साथ ही जुड़ा हुआ है। मोहन मांझी की तमाम आगामी आशाएं और ग्राम विकास की योजनाए गढ़पोखर से जुड़ी है वह मलाही गोढ़ियारी मे अपनी कल्पना को साकार करना चाहता है—

"मोहन मांझी के स्वप्न थे कि गढ़पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चलकर और तब मलाही गोढियारी के ये ग्रामाचल मछली पालन व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। वैज्ञानिक प्रणाली से यहां मछलियां पाली जायेंगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रतिवर्ष अच्छी-से-अच्छी मछलियां अधिक-से-अधिक परिमाण में हम निकाल सकेंगे। एक-एक

सीजन में पचास-पचास हजार रुपयों तक की आमदनी होगी। मलाही गोढ़ियारी का एक-एक परिवार गढ़पोखर की बदौलत सुखी-संपन्न हो जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुकुर्दिल्यों की खेती करेंगे। पक्की ऊँची भिंडो पर इकतल्ला सेनिटोरियम बनेगा फिर दूर-पास के विद्यार्थी आ-आकर यहां छुट्टियां मनाया करेंगे।" (वही, पृ० 30)

परन्तु दूर देवपुरा में बैठा जमीदार मोहन माझी के इस सपने पर पानी फेर देता है, वह गढ़पोखर बेच कर उसकी रकम हजम कर जाता है। जब इसकी खबर मछुआ टोले में लगती है तो वे क्रोध से सुलग उठते हैं। उनके जीवन और मरण का प्रश्न गढ़पोखर ही हल करता आया है। अतः गढ़पोखर का बिकना वे कभी भी स्वीकार नहीं करते, वे संघर्ष के लिए उतारू हैं—

"यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं न कभी बिकेंगे। गढ़पोखर का पानी मामूली पानी नहीं, वह तो हमारे शरीर का लहू है। जिन्दगी का निचोड़ है।" (वही, पृ० 31)

वास्तव में उनकी पूरी जिन्दगी इसी गढ़पोखर पर आधारित है। जाड़े, गरमी और बरसात तथा ठिठुरती सर्दी के दिन इसी गढ़पोखर से कटते थे। मछुए अपनी रोजी पर चोट आती देखकर तिलमिला उठते हैं। वे समवेत स्वर में गढ़पोखर को न छोड़ने का निर्णय लेते हैं—

"सभी एक मत थे कि छोड़ा नहीं जाये। गढ़पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। जमीदार जल-कर लेता था, हम देते थे। नया खरीददार दूसरे-तीसरे गाव के मछुओं को मछलियां निकालने का ठेका देता चलेगा और हम अपने पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर फिरेंगे, भला यह भी क्या मानने की बात है।" (वही, पृ० 31-32)

इन मछेरों में गजब की चेतना है। वे अपने संघ का संबंध किसान सभा से जोड़ लेते है। उन्हें ज्ञात है कि मजदूर, गरीबों, शोषित किसानों का भला अब वे अपने आप ही तलाशेंगे। उन्हें अपने संगठनों के बलबूते पर ही इस भ्रष्ट समाज को गिराना है। मोहन मांझी स्वतन्त्रता आन्दोलन में कई बार जेल जा चुका है। वह संघर्ष के माध्यम से अन्याय का विरोध करना जानता है। अतः वह किसी भी कीमत पर गढ़पोखर को मछेरों के हाथ से नहीं निकलने देना चाहता। कानूनी और आधिकारिक बातें कर गढ़पोखर पर मछेरों का पुश्तैनी हक मानता है। किसान सभा का अधिवेशन बुलाकर उसके द्वारा मछेरों की पीठ पुख्ता कर दी जाती है—

"एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा गढ़पोखर के तथाकथित नए मालिकों को यानी सतघरा के जमीदारों को सम्मेलन ने आगाह किया था कि वे युग की आवाज को अनसुनी न करें, मलाही गोढियारी के मछुओं को गढपोखर से मछलियां निकालने के पुश्तैनी हक से वंचित करने की कोई उनकी साजिश कामयाब नहीं होगी। रोजी-रोटी के अपने साधनों की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नहीं है, उन्हें आम किसानों और खेत-मजदूरों का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा।" (वही, पृ० 107)

यद्यपि जालिम जमीदार की जड़ें बड़ी गहरी थी उसके साथ शासक दल का

पुराना नेता तथा पटना, दिल्ली और जिला केन्द्र लदेरिया सराय के बड़े अधिकारियों से भी उसकी मिलीभगत थी, पुलिस इन्सपेक्टर और अंचलाधिकारी को उन्होने जाकर लालच दिया था। परन्तु जन-आक्रोश के सामने सब कुछ धराशायी हो जाता है। मछेरे अब आजाद भारत के मछेरे है वे जमीदार के नाम तक से चिढ़ते हैं—

"गढ़पोखर के वास्तविक नए मालिक तो हमारी सरकार थी—जमीदारी उन्मूलन के बाद देपुरा वालो का कोई हक नही रह गया था गढ़पोखर पर, यह विशाल जन-सम्पत्ति अब जनता की थी।" (वही, पृ० 113-114)

वे शासन के आतक से चिढ़ते हैं। मिलिटरी के डराने-धमकाने तक से नही मानते, मधुरी खुरखुन की बेटी, बेटी नही बेटा है। वह भी मछेरो के इस संघर्ष में कूद पड़ती है। वह आगे बढ़कर गिरफ्तारी देती है परन्तु अपनी गढ़पोखर छोड़ने के लिए तैयार नही है। मछुआ सगठन अब किसी की भी परवाह नही करेगा—

"मछुओं का संगठन तय कर चुका था कि किसी भी स्थिति में घुटने नही टेकेंगे। सतघरा वालों का नया प्रभुत्व गैर कानूनी है, सर्वथा गलत है, वे पोखर की सीमाओ के अन्दर उन्हें घुसने नही देंगे।" (वही, पृ० 114)

और पूरा-का-पूरा मछुआ संघ मधुरी के साथ गिरफ्तारी देता है—

"मधुरी ने आगे बढकर नकछेदी का हाथ पकड़ा और खीचती हुई बोली—काका देखते क्या हो ? चलो हम टरक पर सवार हो जाएं आप ही चलकर—पल भर की देर नही हुई कि फुर्ती से जाकर वह पुलिस-वान पर सवार हो गई, मंगल उछलकर चढ़ गया फिर जलसर और कन्हाई।" (वही, पृ० 115)

मधुरी संघर्ष की चेतावनी देती हुई बेंच से उठकर खड़ी हो जाती है और पुलिस-वान की लटकती जजीर पकड़ कर हाथ घुमाती हुई जनक्रान्ति का नारा लगाती हुई—'इन्कलाब जिन्दाबाद'—मछुआ संघ जिन्दाबाद···हक की लड़ाई···जीतेंगे, जीतेंगे! गढ़पोखर हमारा है।···मजदूरों को एक दिशा देती है। डा० 'मेघ' उसकी इसी भूमिका को नारी चेतना का क्रान्तिकारी सोपान मानते है—

"वह सच्ची वरुण की बेटी है और खुरखुन के लिए तो वह लडकी न होकर लड़का है—नैतिकता की जंग लगी जंजीरों को तोड़ देने के बाद उसका सामाजिक व्यक्तित्व उभरता है! वह बाढ़-पीड़ित कैम्प में लगन के साथ जन-सेवा करती है, मछुआ संघ का संगठन करती है, किसान सभा की संगठनकर्त्री है तथा सर्वाधिक साहसी होकर सबसे पहले हंसते हुए गिरफ्तार होती है।" (क्योकि समय एक शब्द है, पृ० 301-302)

इस तरह मछुआ सगठन अपने गढ़पोखर के लिए जमीदार के सामने सिर नही झुकाता। वह गिड़गिड़ाकर-रिरियाकर नही अपितु सीना तानकर गिरफ्तार होता हुआ उस पर अपना पुश्तैनी हक कायम करता है। यह स्वतन्त्र भारत के निम्नवर्गीय समाज मे आई अभूतपूर्व चेतना है। उन्होंने अपने अधिकार और साहस को पहचान कर यह कदम रखा है।

पूंजीपति और मजदूर-संघर्ष

पूंजीपति का आर्थिक स्तर मजदूर की खून-पसीने की कमाई पर फलता-फूलता है। मजदूर दिन-रात कड़ी मेहनत करके उसके कल-कारखानों और उद्योगों तथा खेतो में काम करता हुआ दो जून की रोटी के लिए हर रोज खटता रहता है। लेकिन संयोग है कि उसके साथ प्रतिदिन अमानवीय घटनाएं घटती रहती हैं। मालिक लोगों की फटकार से उसकी जिन्दगी की परिवरिश होती है। कर्ज, महगाई और बेकारी उसकी कमर तोड़-तोड़कर उसे अधमरा कर देती है।

परन्तु स्वतन्त्रता के बाद देश में उन्हें एक वैचारिक मच मजदूर यूनियन के नाम से मिला है। वे मालिक अथवा पूंजीपति के शासकीय हथकण्डे का मुकाबला करने के लिए अपने सगठन का सहारा लेते है। हड़ताल, अनशन और धरनों के माध्यम से वे अपनी मजदूरी और बेहतर हालत के अधिकार के लिए कल-कारखानेदारों से लड़ते है। मार्क्स और लेनिन आज उनके लिए अंधेरे में दीपक की तरह हैं जिनके माध्यम से वे अपना रास्ता तय करते है।

नागार्जुन ने मजदूरों के शोषण की कहानी खेत और बाजारों में अधिक दिखाई है। कर्ज और गुलामी की लपेट में लगा मजदूर गाव में बड़े भूस्वामी और जमीदार के यहाँ खटता है तथा महँगाई और बेकारी की मार खाकर वह शहर मे कारखाने अथवा दुकानों पर मारा-मारा फिरता है।

गरीबी मे मजदूर का जमीदार और साहूकार किस तरह गला रेत-रेत कर औकात वाले बनते हैं 'बलचनमा' मे दर्शनीय है। देश-सेवा का नाटक करने वाले फूलबाबू के पिताश्री ने मजदूरों की नाक में ऐसी नकेल डाली है कि उनकी गर्दन सीधी नही रह पाती—

"सौ कसाई के एक कसाई, न लडके का मोह न लड़की का, न भाई का मोह न बहन का, न बाप का मोह न माया का! हाय रुपैया! जब देखो तब रुपैया!—खेती गृहस्थी के अलावे सूद-ब्याज पर दस-बीस हजार की वसूल-तहसील थी उनके हाथों मे। आस-पास के इलाकों से दुसाध मुसहर, चमार, खतबे, पासी, चुनिया, जुलाहा लोगों की बस्तियां थीं। मुसीबत के मारे खेत-मजदूर, आजकल भी पेट बेचते फिरते हैं। और भइया, उन दिनो भी इनका यही हाल था। फूलबाबू के बाप इन्ही गरीबों की जमीन-जायदाद हड़प-हड़प कर औकात वाले बने थे—चार-चार, आठ-आठ, दस-दस रुपैया देकर वह ऐसे नघान नाघते थे लोगों को कि मरने पर भी बेचारों को छुटकारा नही। छोटी जाति वाले जन-बनिहारों के पास होता ही क्या? बहुत हुआ तो दो-चार धुर की डीह, दो-एक मड़ैया, एकाध बकरी-बाछी। मगर भैया, इन कसाइयों के चलते बिचारो के पास यह सब भी नहीं रह पाता। नीलाम करा लेते हैं। कुर्क हो जाती है। अदालत उनकी, हाकिम उनका, थाना दरोगा उनका, पुलिस उनकी गरीबों के लिए सिवाय लात-जूता के और है ही क्या?" (पृ० 50-51)

खेत-मजदूर अपने मालिक के यहां खेती-किसनई का काम कर अपनी दरगुजर करते हैं। 'बलचनमा' उपन्यास के सभी मजदूर, खेत-मजदूर, भूमिहीन और कर्ज की लपेट से मारे हुए है। वे अपना पेट भरने के लिए मालिक लोगों की ड्योढ़ियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी से लगे चले आ रहे हैं। उन्हें दिन-रात अमानवीय यातनाएं मिलते हुए भी वे उसी परिवार से संयुक्त है। उससे अलग हटकर रहने में उनकी दरगुजर नही है। बलचनमा स्वयं कहता है—

"लेकिन मैं तो सिर्फ चरवाहा ही नही था उनका बहिया (पुश्तैनी गुलाम) भी था। मेरी हड्डी, नस-नस और रोएं-रोएं पर उनका मौरूसी हक था। पोसने-पालने, सड़ाने-गलाने और मारने-पीटने का भी उन्हें पूरा हक था।" (वही, पृ० 17)

यद्यपि मजदूर, तीरो अमात, फूदन मिसिर, करीम बक्श, रामखिलौना, रूपलाल, मोसम्मात हमीदा, शेख अब्दुल, बुटू चमार, कुन्ती, मनियर चाचा आदि ऐसे ही मजदूर हैं जो कि मालिक लोगो के यहा मजदूरी कर पेट भरते हैं। क्योंकि बलचनमा के गांवों में कल-कारखाने नही है इसलिए उनका जीवन खेती पर आधारित है। वे वही अपने बेहतर जिन्दगी के लिए किसान सभा का चंदा देकर जमीदारों के खिलाफ संघर्ष करते हैं। उनकी असल समस्या भूमिहीनत्व है अतः वे 'जमीन किसकी जोते-बोए उसकी' चेतना के साथ आगे आते हैं।

गरीब की मजदूरी के शोषण की हर कहानी नयी होती है। वह बडे बाबुओं और मालिकों पर बडा भरोसा करता है। लेकिन ये घिसे घाघ उसे मजदूरी देने के नाम पर आजकल-आजकल करते हुए अदृश्य हो जाते हैं और उधार खाकर मजदूर अपने कपडे भी उधार मे चुकता करके घर वापस आते हैं। यह बड़े-बडे शहरो, कस्बो के ठेकेदारो की कहानी है। नागार्जुन 'वरुण के बेटे' में कोसी बांध की शोषण लीला का प्राकट्य टुन्नी नाम के मजदूर से कराते हैं। हर रोज नया ठेकेदार उसका नाम लिखता गया परन्तु मजदूरी का उसे छदाम तक नही मिल सका—

"भूजा फरही की पोटली बांधकर कोसी किनारे गया मैं इसलिए कि दस रोज बांध की मजूरी करूंगा। खाना-खेवा निकालकर कम-से-कम अठारह आना, बीस आना रोज तो बचा ही लूगा। चार-छह जून साथ के दाने चबा-चबूकर भूख को ठगता रहा, फिर उधार की खिचडी चलने लगी! पहली बार जिस बाबू ने नाम लिखा, वह दूसरी बार नही मिला। दूसरे दिन जो भाई काम लेने आये, दो रोज बाद उनका भी पता नही। मिट्टी काटते-ढोते बारह दिन बीत गए छदाम का भी दर्शन नही हुआ। उधार खाते चावल-दाल-नमक-हल्दी-मिर्च-इंधन देने वाला दुकानदार भला क्यों छोड़ने लगा? कुदाल रख ली, टोकरा रख लिया, धोती तक उतरवा ली। कमर से गमछा लपेटे दो दिन, दो रात का भूखा मैं घर लौट आया हू"—इतना कहकर टुन्नी ने लम्बी सास ली और धरती छूकर दोनों कान छू लिये। (पृ० 40-41)

यह अकेले टुन्नी का आत्म-कथन और परिस्थिति नही है यह उस पूरे तबके का हाल है जो अपना पेट बांधकर सुबह से शाम तक बड़ी मेहनत करते हुए ठेकेदारो के मुहताज रहते हैं और उनके पल्ले छदाम भी नही पडता—

"टुन्नी की यह व्यथा कथा जहा सरकारी व्यवस्था पर व्यंग्य करती है वहा ग्राम-जीवन की उन परिस्थितियो की ओर भी संकेत करती है, जिसके कारण टुन्नी जैसे अनेक ग्रामीणो को रोजी-रोटी की तलाश में घर छोड़ना पड़ता है और अनेक यातनाओं से साक्षात्कार करना पडता है।" (ज्ञानचन्द्र गुप्त : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ० 170)

'बलचनमा' तो गरीबी, कर्ज और गुलामी की कहानी से भरा हुआ है। उपन्यास के नायक ने होश संभालने से लेकर मरने तक कर्ज की ही लपट देखी है। अर्थाभाव के कारण मालिक लोगों की जूठन खाकर, फेरन-फारन पहनकर उसके दिन गुजरते हैं। बलचनमा की मां रिरियाती हुई इस बात को अपनी मालकिन से कहती भी है—

"आ ही का तो आसरा है; नही तो हम गरीब जनमते ही बच्चों को नमक न चटा दें। अरे अपना जूठन खिलाकर, अपना फेरन-फारन पहनाकर ही तो हमारा पर्तपाल करती हैं—दादी ने मलिकाइन के पैर पकड़ लिये—आज से आप इस तिभागे की मां-बाप हुई गिरहथनी ! आपका जूठन खाकर इसका भाग चमकेगा।" (पृ० 5)

बलचनमा उन सैंकड़ों देहाती परिवार के सदस्यों का प्रतिनिधि है जहा कभी तन ढकने को कपड़े नसीब नहीं होते। जाड़े की हर रात इनके लिए प्रलय की सूचक होती है। गुदड़ी-कथड़ी भी उनका साथ नही देती। वह ठण्ड से बचने के लिए मालिक लोगों के कोल्हू पर रात बिताने के लिए चल देता है—

"गांव के बाहर जाड़े के दिनों में हर साल मालिकों का कोल्हू गड़ता। उनके यहां गन्ने की खेती कम नही होती। मैं अपनी छोटी बहन को लेकर रात को कोल्हू-आड़ मे ही बिताया करता। गन्ना खा-खाकर पेट भर लेना और भट्ठी की आंच से गरमाकर सो जाना! डेढ़-दो महीने हर साल जाडो मे हम ऐसा ही करते।" (वही, पृ० 12-13)

गरीब और अमीर कैसे जीवित रहते हैं। एक के स्वास्थ्य सूखने पर दूसरे का हरा बना रहना स्वाभाविक है। उच्च-वर्ग वह पौधा है जिसकी जड़ें सदैव निम्न में जमी रहती हैं। वह उसे चूस-चूसकर कांटा बना देता है। बलचनमा की स्थिति पर यह सहजोक्ति उस पूरी व्यवस्था पर दृष्टिपात करती है जिसमे यह बिरवा पनपता है—

"अच्छा तो भगवान् करते ही है? चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान् ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूरकर फांकती थी, यह भी भगवान् ठीक करते थे। और मालिक लोग कनकजीर और तुलसीफूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते थे सो यह भी भगवान् की ही लीला थी।" (वही, पृ० 16)

इस तरह के तमाम मजदूर नागार्जुन के यहां किसान सभा से जुडकर अपने अधिकारो की मांग करते हैं। वे समवेत स्वर में अपने शोषकों की भर्त्सना कर अपनी बेहतर जिंदगी के लिए आवाज उठाते हैं।

'जमनिया का बाबा' के अन्दर कारखानेदार पूजीपति और मजदूरो का सीधा टकराव देखने को मिलता है। चीनी के कारखाने मे काम करने वाले मजदूर अपनी मांग लाल झण्डे के साथ मनवाते है—

"लाल झण्डे वाले जिद्दी होते हैं। झण्डा उठा लेंगे तो परेशान कर देंगे, मिल वालों की नाक का पानी निकाल देंगे।"

जमनिया मठ का बाबा चीनी के कारखाने के इन मजदूरों के संघर्ष को दाद देता है। वह देखता है कि संघर्ष के माध्यम से यह जेल में भी अपनी मांगें सरकार तक से मनवा लेते हैं यह मजदूर-एकता का परिणाम है—

"चीनी के कारखाने में लाल झण्डा वालों ने हड़ताल कर दी है। पचास-पचपन मजदूर पकड़े गए हैं। पिछली रात बड़ी देर तक नारे लगाते रहे। जेलर से लेकर मिनिस्टर तक को मुर्दा बनाया जाता रहा। नौजवानों के गले में जोर बहुत था, जेलर को आखिर झुकना पड़ा। हड़ताली हवालातियों की माग जेलर को मंजूर करनी पड़ी। जमात में बड़ी ताकत होती है न? और कहीं उसके पीछे पढ़े-लिखे समझदार लोगों की सूझ-बूझ भी हुई तो फिर क्या कहना।" (जमनिया का बाबा, पृ० 14)

वास्तव में मजदूर-वर्ग को स्वस्थ दिशा-संकेत चाहिए वह इन चंद मुनाफाखोरों, शोषकों और ठगों की नाक में नकेल डाल दे। उसकी एकता को यदि खण्डित न किया जाए तो मजदूर के बराबर दुनिया में किसी भी वर्ग की शक्ति नहीं है। जिस दिन यह हर स्तर पर काम करना बन्द कर देगा दुनिया में बेचैनी पैदा हो जाएगी। इसलिए उसे सफल नेतृत्व की अभिलाषा है जोकि धीरे-धीरे उसके वर्ग में पनप रही है।

राजनेता और उनकी अवसरवादिता

नागार्जुन ने वर्तमान राजनीति पर बड़े ही करारे वार किए हैं। सत्ता में चिपके लोगों को उन्होंने बड़े निकट से देखा है। देश-सेवा के नाम पर ये लोग सदैव ही परिवार की सेवा करते रहे हैं। इनके लिए राष्ट्र इनकी बिरादरी, प्रांत इनका परिवार और क्षेत्र इनका अपना घर बना है। आम आदमी और गरीब इनको जिस आशा में अपना मत देकर आगे भेजता है यह उसे कभी लौटकर भी नहीं देखते।

आजकल की राजनीति एक नाटक के रूप में बदल गई है वह एक ऐसा तीर्थराज प्रयाग है कि उससे जुड़ते ही सभी पाप धुल जाते हैं। जातिवाद और भाई-भतीजावाद ने इसे और अधिक लोकप्रिय बनाया है।

आजादी के पूर्व की स्थिति पर बलचनमा फूलबाबू के असेम्बली चुनाव पर यह टिप्पणी करता है जोकि ऐतिहासिक है। नागार्जुन की यह दूरदर्शिता आज वास्तव में खरी उतरी है। जातिवाद में सिर से पैर तक डूबा हुआ फूलबाबू असेम्बली का मेम्बर बनने के लिए कांग्रेस का प्रत्याशी है। बलचनमा क्षेत्र के भविष्य के बारे में अपनी भविष्य-वाणी पहले ही कर देता है—

"फूलबाबू भी मेम्बरी के लिए खड़े होंगे; कांग्रेस इसी इलाके के लोगों से वोट [illegible] फूलबाबू को असेम्बली का मेम्बर बनाना चाहती है।—मेम्बर बन चुकने पर

हमारे छोटी मालिकाइन के यही भतीजा बाबू मिनिस्टर हो भी जाएं तब तो हुआ। भूचाल के बाद रिलीफ फण्ड का रुपैया लेकर यह बाबूसाहब हमारी बस्ती में जैसी खैरात बांट गये थे, तीसरे साल, सो तुम्हें बता ही चुका हूं भइयन, मेरे मेम्बर से तो हमारे इलाके का बंटाढार हो जायेगा। पानी में आग लग जायेगी—।"(बलचनमा, पृ० 181)

यह वह कांग्रेसी चरित्र है जिससे कोई भी ऐब नही छूटा। गरीब मजदूरों का रहनुमा यह उन्हीं का गला रेतता रहा।

'कुम्भीपाक' में मिनिस्टर के चपरासी का कथन मन्त्रियों के तमाम कुकर्मों का उद्घाटन एक ही सांस मे करता है। चपरासी दिन-रात अपनी आंखो से बंगले मे होने वाले अनैतिक कार्यों की जानकारी रखकर ही यह बात कहता है—

"अभी तुम बच्चा हो""""अरे इन्ही कोठियो के अन्दर तो अन्याय पनाह लेता है आकर! सरकार अभी इन्ही कोठियों और बंगलो में कैद है, उसे तुम तक पहुंचने मे दस-बीस वर्ष लग जायेंगे अभी।" (पृ० 38)

नागार्जुन ने आजादी से पहले और आजादी के बाद की नेताओं की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने राजनीति के खिलाड़ियों की भावना को बड़े करीने से अभिव्यक्त किया है—

"15 अगस्त 1947 से पहले का वह राजनीतिक मैदान बहुत बदल गया है। दाव-पेंच बदल गए है। बोली बदल गई है। इशारा बदल गया है। खिलाड़ियों की नीयत बदल गई है"'पहले वाला वह लक्ष्य जाने किधर ओझल हो गया? उन दिनो राजनीतिक मैदान बिल्कुल सपाट था और आज? खाइयां हैं, टीले हैं, बालू है, दलदल है, दरारें है, जहरीली घास है, कंटीली झाड़-झखाड़ है"'महाप्रभुओं का साथ देते रहोगे तो भौतिक लाभ जरूर होगा।" (वही, पृ० 81)

नागार्जुन का 'अभिनंदन' उपन्यास तो आधुनिक राजनीति का प्रामाणिक दस्तावेज है। भ्रष्ट मन्त्री सत्ता से चिपकने के लिए क्या नही करता, भ्रष्ट मन्त्री से चिपकने के लिए चापलूस कौन-सी कसर बाकी नही छोड़ते यह इस उपन्यास मे देखा जा सकता है। माल मन्त्री बाबू नरपतिसिंह की हीरक-जयन्ती में उन्हे अभिनंदन-पत्र भेंट करने वाली समिति के तमाम मेम्बर छटे हुए घाघ हैं, जिन्होंने भ्रष्टाचार करने मे कोई भी कसर उठाकर नही छोड़ी है। सभी व्यक्ति नैतिक-अनैतिक कार्यों में लिप्त है।

अतः आम आदमी इन सफेदपोश डाकुओं की गिरफ्त मे ही है उसे कहीं भी चैन नही मिल रहा है। 'बाबा बटेसरनाथ' में दयानाथ देश की आजादी और नेताओं के बारे मे साफ कहता है—

"आजादी! छिः! आजादी मिली है हमारे उग्रमोहन बाबू को, कुलानन्द दास को"' कांग्रेस की टिकट पर जो भी चुने हुए हैं उन्हें मिली है आजादी! मिनिस्टरों को तो खैर ऊंचे दर्जे की आजादी मिली है।"'राजनीति गरीबों और भूखो के लिए नही हुआ करती वह तो खाते-पीते स्यानो की चौपड़ है।" (पृ० 110-111)

इस प्रकार साफ जाहिर होता है कि राजनीति का आधार दिन-पर-दिन बदलता जा रहा है। आज की राजनीति वास्तव में ही बड़े लोगो की रखैल की तरह है। नेता लोग

जनता को भ्रम मे डालने के लिए चुनावो के समय बड़े जोर-शोर से कार्यक्रम और योजनाएं पेश करते हैं। लेकिन उनके दर्शन चुनाव जीत जाने के बाद फिर शायद कभी नही होते। भारतीय राजनीति पर अवसरवादिता पूरी तरह हावी है।

सरकारी कर्मचारी और उनकी सार्वजनिक भूमिका

प्रशासनिक कार्यों मे सरकारी कर्मचारियों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश की बेहतर प्रशासन अथवा बदतर हालत करने में इन लोगों का सबसे अधिक उत्तरदायित्व होता है। नेता और मन्त्री केवल अस्थायी सरकार के नियामक होते हैं। नीति-निर्धारण और कार्यान्वयन मे कर्मचारियों का बड़ा योगदान होता है।

सरकारी अफसर सरकारी प्रावधानों से चुने जाते हैं। वे जनता को स्वच्छ प्रशासन देने के लिए सरकार से वेतन प्राप्त करते हैं। परन्तु इनका कार्य-व्यापार बड़ा ही दिलचस्प होता है। भ्रष्ट अधिकारी सदैव अपराधी को सजा देने के बजाय उनकी खूब मदद करते हैं। पुलिस हिरासत से डकैतों का भाग जाना, जेल के अन्दर से कैदियों की फरारी उनके अकर्मण्यता का ही परिणाम है। पैसे वालों की पीठ इन्ही लोगों से भारी रहती है। गरीब और सताया हुआ व्यक्ति न्याय की तलाश में जब इनके पास पहुंचता है तो उसने लात-जूते गाली-गलौज के सिवाय और कुछ नही मिलता। उसके अपराध को लिखना तो दूर रहा उसकी सूरत तक उन्हे देखने मे बुरी लगती है। इस रहस्य के पीछे उनकी बिगड़ी हुई नीयत है। उन्हें मुफ्त का धन चाहिए, काम-पिपासा शांत करने के लिए दूसरी की बहू और बेटियां चाहिए।" साथ ही सव्यसाची ने पुलिस के बारे में कहा है—

"सरकारी अफसरों और पुलिस के भ्रष्ट होने से आम जनता के लिए न्याय को भी असम्भव बना दिया है। रिश्वत के अलावा पुलिस द्वारा बलात्कार की घटनाएं भी बढ़ती जा रही हैं।" (यह सब क्यो ?, 1977, पृ० 12)

यह वास्तविकता है कि दैनिक-पत्रों का मुखपृष्ठ लगभग इन्ही रंगे सियारों के खूनी धब्बों से भरा रहता है। रेप, मर्डर, डकैती आदि आज की पत्रकारिता में प्रमुख स्थान पर छपती है। बलचनमा मे नागार्जुन ने अपनी टिप्पणियों से सरकारी कर्मचारियों की सार्वजनिक भूमिका पर प्रकाश डाला है। बालचंद्र की बहन रेवती के साथ मालिक द्वारा किया गया बलात्कार का असफल प्रयास बालचंद्र के विरोध करने पर मालिक झूठी रिपोर्ट लिखाकर पुलिस के चंगुल मे फंसा देता है। बलचनमा पर चोरी का इल्जाम लगाया जाता है। वह गरीब है, पुलिस की दृष्टि में वह अपराधी है। उसकी सही बात अब थाने में नही सुनी जायेगी। अतः दरोगा के बारे में न्याय की आशा पर उसका यह दृष्टिकोण पुलिस व्यवस्था का सही चित्रण प्रस्तुत कर रहा है—

"दरोगा तो नही मानेगा। या तो घूस लेगा या फिर बात को आगे बढा देगा। इससे मेरा निस्तार कैसे होगा ?" (बलचनमा, पृ० 163)

यह अकेले बलचनमा की छटपटाहट नही है बल्कि उन लाखो-लाख देहाती गरीब और ईमानदार लोगों की छटपटाहट है जो आये दिन रोजाना वेकसूर 'जेलो मे ठूस दिए जाते हैं और असली अपराधी इन सरकारी स्वानो के साथ बैठकर होटलो मे हड्डियां चबाते है। यह दैनिक क्रम है।

अब यह सर्वमान्य सत्य है कि पुलिस थाना बड़े लोगो का ही होता है। बडे लोगों द्वारा किया गया जुल्म उनकी सहज स्वीकृति है। वे हर तरह से उन्ही लोगो की सुरक्षा करते हैं। नागार्जुन के महपूरा के खानबहादुर सादुल्लाखां के जुल्म में इसी पुलिस की पूरी साजिश का सकेत दिया है—

"उस जालिम जमीदार का मुकाबला अकेले तो कोई नही कर सकता? उसकी पीठ पर थाने के दरोगा साहब थे, दरभंगा के कलक्टर साहब थे।"

अतः इस नौकरशाह के दरिंदों के बारे मे बाबा नागार्जुन की यह बात बडी महत्वपूर्ण है—

"जमीदार और सरकारी अफसर दुरजोधन ठहरे, उनको जुधिस्ठर पस्त नही कर सकते भइया।" (वही, पृ० 182)

'वरुण के बेटे' के अन्तर्गत रिश्वत और घोटाले में सरकारी कर्मचारी है जोकि लाखो का माल डकार रहे हैं। कोसी बांध पर सरकारी व्यय के दुरुपयोग पर खुरखुन कहता है—

"हे भगवान् कैसा जमाना आया है। पच्चीस करोड-पचास करोड़ रुपया लगाकर पन्द्रह साल में कोसी बाध तैयार होंगे। हजारों का माहवारी चारा पाने वाले पचासों आफिसर बहाल हुए हैं। लाखों के ठेके मिले है। ठेकेदारों को करोड़ों का सामान वीरपुर में भरकर अटा दिया गया है। रात-दिन हवाई जहाज कोसी इलाके में मंडराते रहते है। पानी की तरह रकम बहाई जा रही है...ऐसा अनर्थ तो न कभी सुना, न देखा, हे भगवान् सृष्टि के इन्ही तौर-तरीकों मे तुम्हें अपने विधातापन का स्वाद मिलता है? हिंद हितकारी समाज नही पेट हितकारी समाज!...छी-छी-छी-छी...।"

'बाबा बटेसरनाथ' मे पुसिल दरोगा की दुनाई पाठक अपने रिश्तेदार से भी ऊंची खातिर करते हैं। दरोगा साहब का यह सम्मान वह अपने स्वार्थ के लिए करता है लेकिन दरोगा साहब भी उसकी चिकनाई पर फिसल रहे है—

"दरोगा साहब आये है इस खुशी मे पाठक ने बकरा कटवाया। खूब अच्छी तरह उनको खिलाया-पिलाया, देर तक हा-हा ही-ही होती रही और बैटरी वाले रेडियो पर लता मंगेशकर का सुरीला कण्ठ रह-रहकर लहराता रहा।" (पृ० 101)

'नई पौध' के अन्तर्गत तो गांव का मुखिया तिरंगे झण्डे को अपनी ढाल समझता है। उसकी छाया में मुखिया के काले धंधे छिप रहे है—

"गांव का मुखिया चीनी और मिट्टी का तेल कण्ट्रोल रेट पर और भी समय पर कम ही लोगो को देता था। अपने मकान के सामने उसने बीस गज लम्बी बांस गाड़ रखी थी जिसके छोर पर तिरंगा फहरा रहा था। कपड़े की परमिट में भी लाइसेंसदार मारवाड़ी से सांठ-गांठ करके मुखिया काफी कमा चुका था।" (पृ० 9)

इस तरह की कार्यप्रणालियों से देश का वास्तविक विकास भी अवरुद्ध होता है। स्वच्छ प्रशासन के बिना उन्नत समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। रिश्वत, भ्रष्टाचारी तथा भ्रष्ट अफसरों की नारी-शोषण प्रशासन पर बहुत बड़ा कलंक है। 'जमनिया का बाबा' उपन्यास में तो नारी-शोषण ने धर्म के मठ को लूट में ही बदल दिया है। भगवान के साक्षात्कार की नरबलि का काण्ड छिपाने के लिए मोती नाम की योगिनी-शिष्या की आड़ है जो लगातार चार दिन और चार रात उसके साथ गुफे मन लगा गुफे तन से योगी है। इस तरह मठ की वास्तविक घटना को दूसरा मोड़ दिया जाता है—

"पूजा की आठवीं रात में जाने किधर से एक पगली आई, उसकी गोद में छः महीने का बच्चा था। पुजारी की नजर बचाकर उसने बच्चे को हवन-कुण्ड में डाल दिया। योगिनी तो पकड़ी भी गई लेकिन बच्चे को बचाया नहीं जा सका। बाबा की मर्जी थी कि पगली को थाने तक पहुंचा दिया जाए, लेकिन अगले ही दिन वह गायब हो गई। अब कुछ गुण्डों ने उल्टी बातें फैला दी हैं। सरकार बहादुर से अर्ज है कि वह जमनिया मठ के सन्त बाबाजी महाराज की प्रतिष्ठा और इज्जत को ध्यान में रखें।" (पृ० 90)

यह है भारतीय प्रशासन के असमयरदारों का चरित्र जिसके ऊपर नागार्जुन ने बड़ी गहरी दृष्टि रखकर उसे उद्घाटित किया है। वास्तव में भारत बाबा के निष्कर्ष एक व्यवस्था को बनाने के लिए है। उनका टकराव एक नवीन चेतना को जन्म देने के लिए है। उनका पूरा-का-पूरा वर्ग-संघर्ष विशिष्ट प्रकार के समाज रचना के लिए है जिसमें अन्याय, शोषण और दमन किसी भी छोटे-से-छोटे व्यक्ति के ऊपर न होने पाये।

8. नारी की राजनीतिक भूमिका

नागार्जुन की नारियां पुरुषों से पीछे नहीं हैं और न पीछे रहने अथवा मानने के खिलाफ भी हैं। नागार्जुन ने उनसे चुनौती भरा जीवनयापन करवाया है जो ऐतिहासिक एवं भविष्य के लिए दिशासूचक है। उनकी ये देहाती नारियां 'नारी समाज' के लिए नए द्वार खोलती हैं। गौरी चाची, मधुरी, मुसम्मात हमीदा, मुसम्मात कुती, अशिक्षित होते हुए भी ये अपने निज के अस्तित्व और वर्ग के हित को अच्छी तरह समझती हैं।

'वरुण के बेटे' की मधुरी तो वह नारी बनी है जिसने पति सत्तात्मक समाज की लात मारकर तोड़ा है। निम्नवर्गीया होते हुए, अशिक्षित होते हुए भी उसने यह क्रांतिकारी कदम बड़े साहस के साथ उठाया है। वह आत्म-विश्वास के साथ अकेली जीती है।

नागार्जुन की यह वरुण पुत्री यद्यपि निम्न-वर्गीय है। परन्तु उसके मन में संकोच और भय का लेश-मात्र भी बिंदु नहीं है। वह स्त्री होते हुए पुरुष से आगे है। गांव में अपने मछुआरे परिवार के 'मछुआ संघ' की राजनीति में वह सक्रिय भाग लेने लगी है। वह अनपढ़ है फिर भी बातों को बड़ी गम्भीरता से समझकर उनका जवाब देती है। जमींदारो द्वारा गढ़पोखर पर किए गए झूठे दावे के खिलाफ वह अपने पिता के साथ 'मछुआ संघ'

का साथ देती है। वह अकेली महिला है जोकि तहकीकात के लिए आये हुए अफसरो को यह कहने पर कि "मोहन मांझी ने आखिर तुम्हे भी कम्युनिज्म का पाठ पढा ही दिया··· राजनीति ही तो एक चीज थी जिसे गांव की बहू-बेटियों ने अब तक अपने पास फटकने नही दिया था, लेकिन तुमको देखता हूं···" पर दो-टूक जवाब देती है "तो इसमे क्या हर्ज है हुजूर। जिंदगी और जहान औरतो के लिए नही है क्या ?" (पृ० 113) इस कथन के पीछे निश्चय ही नागार्जुन की वह बुलंद आवाज है जिसे वे हर नारी तक पहुंचाना चाहते है।

मधुरी मलाही गोढियारी गांव मे गढ़पोखर के मसले को लेकर संघर्ष करती है, वह अनपढ़ होते हुए भी मछुओ का नेतृत्व करती है। पुलिस और थाना दरबार से उसे तनिक भी दहशत नही होती है। वह मिलट्री की गाड़ी पर बेलौस चढ़कर गिरफ्तारी देती है। हिंदी-साहित्य में यह अपने चरित्र की अकेली नायिका है—

"मधुरी ने आगे बढ़कर नकछेदी का हाथ पकड़ा और खीचती हुई बोली काका देखते क्या हो ? चलो, हम ट्रक पर सवार हो जाएं आप ही चलकर।" (वही; पृ० 115)

फिर उसने मंगल, जलेसर और कनहाई को भी अलग-अलग सम्बोधित किया। पल भर की देर नही हुई कि फुर्ती से जाकर वह पुलिस-वान पर सवार हो गई।

मधुरी के मन मे अपार उत्साह है वह खामोश मातमी वेश मे नही बैठती। वह नारे लगाती हुई मछुआ संघ की चेतना को मुखर कर देती है—

"लेकिन मधुरी से नहीं रहा गया। वह बेंच से उठकर फिर आगे आ गई और पुलिस-वैन के पिछले छोर पर खड़ी हो गई। बाएं हाथ से उसने ऊपर लटकती जजीर को थाम लिया और दाहिना हाथ घुमाकर नारे लगाने लगी लोग दुगने-चौगुने जोश में जवाबी नारे देने लगे—

'इन्कलाब जिंदाबाद ! मछुआसंघ जिंदाबाद···हक की लड़ाई जीतेंगे-जीतेंगे, गढ़-पोखर हमारा है; हमारा है···।" (वरुण के बेटे, पृ० 119)

मधुरी ग्रामीण अंचल में अद्वितीय व्यक्तित्व वाली नारी है जिसने पढ़ी-लिखी और शिक्षित महिलाओं के लिए भी राजनीतिक दिशा दी है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ उसके इसी व्यक्तित्व की सराहना करते है—

"नैतिकता की जंग लगी जंजीरों को तोड देने के बाद उसका सामाजिक व्यक्तित्व उभरता है। बाढ़-पीड़ित कैम्प में लगन के साथ जनसेवा करती है, 'मछुआ सघ' का सगठन करती है, किसान सभा की संगठनकर्त्री होती है तथा सर्वाधिक साहसी होकर सबसे पहले हंसते हुए गिरफ्तार होती है···एक सामान्य मल्लाहिन के रूप में विकसित होकर वह मुक्त नारी और समाज के अधिकारो की शक्ति हो जाती है।" (क्योंकि समय एक शब्द है, 1975, पृ० 302)

'बलचनमा' के अन्दर भी निम्नवर्गीय नारियां राजनीतिक संघर्ष मे विशिष्ट भूमिका निभाती हैं। रामपुरा गाव में जमीदार द्वारा किसानों की पकी फसल हड़पने पर वे तिल-मिला उठती है—

"इस मौके पर मुसम्मात हमीदा ने बड़ी बहादुरी दिखलाई। जिनकी यह जमीन थी

उन्हीं किसानों के यहां से दस-पन्द्रह औरतों को बुला ले गई और चार कट्ठे की तैयार फसल धान काट लाई।" (पृ० 185)

इन महिलाओं में राजनीतिक संगठन को मजबूती बनाने का भी अटूट हौसला है। वे किसान-सभा के लिए घनघोर गरीबी में भी इकन्नी से मेम्बर बन जाती हैं। मुसम्मात कुन्ती उन्हीं में से एक हैं—

"मुसम्मात कुन्ती ने सुना तो खुद आकर इकन्नी दे गई और रसीद ले गई, कहा था—वालो देवता के प्रसाद के लिए एक चुटकी पिसान गरीबिन का भी।" (वही, पृ० 182)

नागार्जुन ने नारी को पुरुष के साथ लाकर राजनीति में उनके सक्रिय सहयोग को स्वीकार किया है। वे चाहते है कि महिलाएं अपने वर्ग तक ही सीमित न रह जाएं अपितु जन-सामान्य के साथ उनका सम्पर्क बना रहे। वे देश के उत्थान तथा उसकी समस्याओं के सुलझाव में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। □□

श्री नागार्जुन के उपन्यास

पुस्तक का नाम	प्रकाशन	संस्करण	वर्ष
रतिनाथ की चाची,	यात्री प्रकाशन, पटना-6	नवीन संस्करण	1977
बलचनमा,	किताब महल, इलाहाबाद,	पंचम संस्करण	1976
दुखमोचन,	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	,,	1978
नई पौध,	किताब महल, इलाहाबाद	,,	1957
वरुण के बेटे,	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली	,,	1975
बाबा बटेसरनाथ,	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	चतुर्थ सस्करण	1978
जमनिया का बाबा,	किताब महल, इलाहाबाद	प्रथम संस्करण	1968
उग्रतारा,	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली,	तीसरा संस्करण	1970
कुंभीपाक,	वही	दूसरा संस्करण	1973
पारो	संभावना प्रकाशन, हापुड़,	प्रथम संस्करण	1975
अभिनंदन	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्रथम संस्करण	1979